॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला
१३२

पुराण की लोक-भारती

(धर्म, समाज तथा युग के आधार पर पुराण
की कथाओं का उन्मीलन)

डॉ० जयशङ्कर त्रिपाठी
साहित्याचार्य, एम्० ए०, डी० फिल्०

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१
१९७०

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

132

PURĀṆA KĪ LOKA-BHĀRATĪ

(Representation of Purāṇa tales in the light of Religion and Society.)

Dr. JAY ŚAṄKARA TRIPĀṬHĪ,

Sāhityāchārya, M. A., D. Phil.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1970

दृष्टिकोण

पुराण सच्चे अर्थं में लोक-साहित्य है। ऐसा लोक-साहित्य जिसके भीतर लोक-दृष्टि से अनुरंजित होकर धर्म, समाज, राजनीति, व्यवहार, पाखण्ड एवं संकीर्णता सब कुछ यथा-स्थान चित्रित हैं। पुराण की कहानियाँ ऐसे ही चित्र हैं जो इतिहास की मिट्टी को लोकदृष्टि से रंग कर बनाये गये हैं। पुराणों में एक ओर राजा और ब्राह्मण की बहुत ऊँची स्तुति की गयी है तो दूसरी ओर उन्हें धर्मच्युत देखकर उनकी घोर भर्त्सना भी की जाती है। शासकों के स्मृति-धर्म की चर्चा और उसकी घोर मान्यता पुराणों में है। लेकिन इसके विपरीत सहज मानव-धर्म जिसमें शूद्र भी ब्राह्मण का उपदेशक बन जाता है, पुराण में उल्लिखित और प्रशंसित हुआ है। कालने जब जैसी करवट ली है, उसके रथ के पहिए जब जिधर से धूल उड़ाते हुए निकल गये हैं, उन उड़ते हुए बगूलों की फोटो की रील ये पुराण हैं, जिनका स्वाध्याय उन-उन युगों का सही इतिहास-चित्र प्रस्तुत करने में क्षम हो सकता है। राजाओं के आख्यान, ऋषियों के उपाख्यान, उनके वंश और वंशानुचरित में युग की धाराएँ छिपी पड़ी हैं।

यही नहीं, भारतीय मनीषा ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो ऊँची उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, लोक के साथ वे उपलब्धियाँ जितनी समन्वित हो सकी हैं उतनी सीमा तक उनका भी अंकन इन पुराणों के प्रसंग में आ गया है; ज्योतिष, गणित भूगोल, काव्य, चित्र, संगीत का ज्ञानप्रकाश भारतीय इतिहास के स्वर्णयुगों में जनता के गृहों को प्रकाशित करता रहा है और इसीलिए अतीत में वह पुराण का अंग बन गया। पुराणों में इन विषयों का उल्लेख अव्यवस्थित किन्तु विस्तार से हुआ है।

क्यों कि पुराण सदा लोकभाषा का लोक-साहित्य रहा है इसलिए ऋषियों के वाङ्मय वेद से भी पूर्व इसकी स्थिति रही है। 'पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः' (मत्स्य० ५३। ४) मत्स्य पुराण का यह वचन उक्त कथन की ऐतिहासिकता की ओर ही संकेत है। वैदिककाल में ऋषि-वाङ्मय के चरम उत्कर्ष के कारण पुराणों का अस्तित्व बहुत कुछ लुका-छिपा ही रहा। उपनिषद् काल से पुराण-साहित्य पुनः ऊँचे

उठने लगा। उपनिषद् के अनेक आख्यान (जिनमें कुछ प्रमुख आख्यान इस पुस्तक में कहानी-रूप में निबद्ध हैं) लोक-पुराण से ही गृहीत होकर अध्यात्म-चिन्तन के अंग बन गये हैं। अध्यात्म-चिन्तन तथा राजचरित के क्षेत्र में ज्ञान और इतिहास का प्रमुख अंग होने के कारण बिखरे हुए पुराण-वाङ्मय को महामुनि व्यास ने पुराणसंहिता के नाम से संकलित किया। इस प्रकार व्यास द्वारा सम्पादित एवं व्यास के पूर्व पुराण नाम से एक ही वाङ्मय था। पुराणों के भेद बहुत पीछे भिन्न-भिन्न राजवंशों के उत्कर्ष और उनके द्वारा आदृत धर्मों के अभ्युदय काल में कल्पित होते गये तथा सम्प्रदायगत विभागों के आधार पर अठारह पुराण और अन्य उपपुराणों का नामकरण एवं उपबृंहण हुआ।

पुराण के इस इतिवृत्त को समझते हुए उसके महत्त्व को अस्वीकार करने का कोई भी रास्ता हमारे पास नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि निरपेक्ष हो कर, धार्मिक रूढ़ियों तथा पूर्वग्रहों से मुक्त होकर पुराण-साहित्य का अध्ययन किया जाय और उसकी उन सामाजिक उपलब्धियों को सामने रखा जाय जो आज भी हमारे मानवधर्म तथा मानवसत्ता की उच्चाकांक्षाओं का स्पर्श करती हैं, जो आज भी हमारी अनेक सामाजिक उलझनों का समाधान हैं।

ऐसे ही स्वाध्याय के फलस्वरूप उपनिषद्-पुराण की कहानियों को आज के युग के धरातल पर रख कर परखने की चेष्टा मैं ने की है। इन कहानियों को पुराणों के आवरण से सर्वथा लघु, सरल और बोधगम्य बना कर ही रखा गया है। लेकिन गाँठ को सुलझाने में जो एक जटिलता होती है, उस जटिलता का सामना मुझे करना पड़ा है और उसका प्रभाव मेरे विषय-सम्बन्धी प्रस्तुतीकरण पर अवश्य होगा। परन्तु इन कहानियों के छोटे कलेवर में समाज, इतिहास, धर्म की जबर्दस्त गाँठों का खोलना भी एक विचित्र स्थिति थी। विश्वास है, इस विचित्र-स्थिति में भी अपने तथ्य उन्मीलन के लिए ये कहानियाँ पाठकों को प्रिय होंगी।

'संगमनी' त्रैमासिकी
दारागंज, इलाहाबाद
पौष कृ० ९, संवत् २०२६

जयशङ्कर त्रिपाठी

क्रम

पुराण की लोकभारती

१. भारती की वीणा

सागर की उत्ताल तरंगें पृथ्वी के आँचल और पहाड़ों के शीश पर अठखेलियाँ कर रही थीं। ऊपर अंधकार का चतुर्मुखी समुद्र, जिसकी काली तरंगें ऊपर-नीचे, दायें-बायें चारों ओर सनसनाती हुई जा रही थीं, अनन्त आकाश को घेर चुका था। न सूर्य था, न चन्द्रमा, न तारे और सितारे। समय ने सूर्य-चन्द्रमा जैसे पहियोंवाले रथ को पता नहीं कहाँ फेंक दिया था? जैसे उसे सृष्टि से विराग पैदा हो गया हो और वह विरक्त होकर वहाँ आ गया था जहाँ एक ओर अन्धकार का आकाश से भी ऊँचा पहाड़ था और दूसरी ओर धरती को आत्मसात् करती हुई अपार जल-राशि थी। यहीं कहीं किसी अज्ञात गुफा में सृष्टिरथ का वह काल-रूपी सारथी समाधि लगा कर बैठ गया था।

यह था जल-प्लावन का दृश्य। तब हिमालय नहीं था। विन्ध्याचल के ऊँचे शिखर उस अपार जलराशि की वेगवती तरंगों का मुकाबला कर रहे थे। समुद्र की वे भीषण तरंगें हजार-हजार पृथ्वियों को एक बार में बहा सकती थीं और हजारों सूर्य, चन्द्रमा उनमें दूध में बतासे की भाँति घुल सकते थे।

विन्ध्याचल के शिखर उन तरंगों के थपेड़ों से टूट रहे थे, टूटी हुई चट्टानें धूलिकण-सी समुद्र में मिली जा रही थीं। जैसे हजार हाथी एक बार चिंग्घाड़ मारें, एक लहर उतने जोर से गरजती हुई आती थी। लहरों की भीषण गर्जना के व्याज से, ऊपर छाया हुआ निस्सीम अन्धकार ही महाकाल बन कर अट्टहास कर रहा था, जिसमें दिशाएँ लताओं-सी काँप रही थीं।

इतना सब हुआ फिर भी लहरों के स्पर्श से विन्ध्यगिरि का अमरकंटक शिखर अछूता रह गया।

समुद्र की हजार-हजार भुजाओं-सी लहरें पृथ्वी को लपेट कर लीलने का प्रयत्न कर रही थीं, लेकिन अमरकंटक का शीश उनकी पकड़ में नहीं आ रहा

था। जबकि विन्ध्याचल के शेष शिखर लहरों की मुट्ठी में आ चुके थे, कौन जाने कितने हजार वर्षों तक जल-प्लावन का यह महासमुद्र गरजता रहा, किन्तु लहरें ब्रह्मा के कमलासन की तरह स्थित अमरकंटक के उस शिखर को अपने वश में न कर सकीं।

अग्निरूपी चतुर्मुख ब्रह्मा, जिसके बिना इस प्राणि-जगत् का सर्जन असंभव है, जो पृथ्वी के चारों दिशाओं में अपनी उष्णता की किरणें बिखेर कर वनस्पतियों और जीवों की उत्पत्ति करता है, वह इस महा जलराशि को देखकर पृथ्वी के अन्तराल भुवन में भाग गया था और विष्णुरूपी सूर्य के अभाव में किसी भाँति अपनी सुरक्षा कर रहा था, उन दो महान दैत्यों से—जिनमें से एक था समुद्र की लहरों का थप्पड़ मारनेवाला मधु और दूसरा था अन्धकार के अणु-परमाणुओं से अन्तरिक्ष को भरनेवाला कैटभ। ये दोनों मधु-कैटभ खोज रहे थे इस सृष्टि के सृजन-कर्ता ब्रह्मा-अग्नि को।

कैटभ ने कहा—'मैं समस्त अन्तरिक्ष में घूम-घूम कर देखता हूँ, जहाँ भी वह ब्रह्मा होगा, मैं पकड़ कर तुम्हें दे दूँगा। तुम तैयार रहो उसे लील जाने के लिए। मधु गरजता रहा पर आकाश में ब्रह्मा-अग्नि का पता न चला। तब दोनों ने सोचा—निश्चय वह इस पृथ्वी के भीतर छिपा हुआ है। और कैटभ ने कहा—लील जाओ मधु! इस पृथ्वी को। फिर देखें, वह अग्नि जाता कहाँ है? पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े करके चबा जाओ। मधु ने वही किया था।

कमल के उस कोश में, जिसे हाथी ने तोड़ लिया हो, बँधे हुए भ्रमर की भाँति अब अग्नि की शोचनीय दशा थी। वह इस सृष्टि का ब्रह्मा है, पर उसकी रक्षा इन मधु-कैटभ दैत्यों के कारण असम्भव हो रही है। उसका पिता विष्णु-सूर्य इस अनन्त जलराशि की दूसरी ओर कहीं सो गया है, उसे वह पुकारना चाहता है, पर कैसे पुकारे? पृथ्वी के अन्तराल में छिपा हुआ यदि वह चिल्लाना भी चाहे, उसकी पुकार सुनेगा कौन?

हजार वर्षों तक यही द्वन्द्व चलता रहा और जब अमरकंटक के शिखर को समुद्र की लहरें न छू सकीं तब ब्रह्मा-अग्नि ने अपने को रक्षित समझा,

और आ गया वह उस शिखर पर। पर करे क्या ? उसकी बोलने की हिम्मत न थी, क्योंकि ऊपर कैटभ अन्धकार के परमाणु बिखेर कर उसकी खोज कर रहा था। अतः उसने छिपे-छिपे मन ही मन में पिता विष्णु को जगाने के लिए विश्व की स्थिति और संहार की विधायिनी विष्णु की मूलशक्ति माता योग-निद्रा की स्तुति की।

योग-निद्रा उपस्थित हुईं और उन्होंने ब्रह्मा की विकलता देखकर सरस्वती का रूप पकड़ा। अमरकंटक का शिखर उनके लिए हंस बना और उन्होंने नीलमणि की बनी अपनी वीणा बजाना शुरू किया। स्वर-लहरी अंधकार चीरने लगी, अंधकार के पहाड़-जैसे बगूले सघन और चंचल होकर आपस में टकराने लगे। प्रलय-समुद्र के गरजते हुए ऊँचे मस्तकों पर स्वर-लहरी ने विद्युत्-वेग से अपने चरणों का प्रहार किया, गर्जन की ऊँची लहरें अमरकंटक के नीचे उतरने लगीं, पर अंधकार कम न हुआ।

वीणा बजती रही एकतान से, एक वेग से और एक विभ्रम से, स्वर-तरंगों ने आकाश को भर लिया, समुद्र को बाँध लिया और तब अंधकार का पहाड़ स्वर के ज्वालामुखी-स्फुलिंगों से भर उठा। सरस्वती जहाँ बैठी थीं वहाँ के पत्थर पिघल कर समुद्र की ओर प्रवाहित हो उठे। और इसके बाद फिर समुद्र और अंधकार की सीमाओं के उस पार लाल रेखाओं की डोरी दीख पड़ी, मानो सोते हुए सूर्य-विष्णु ने निद्रा भंग की।

अंधकार के पहाड़ उस लाली पर टूट पड़े और समुद्र का गर्जन उसे लीलने के लिए घोर अट्टहास करता रहा। कहा जाता है, पाँच हजार वर्ष तक विष्णु और मधु-कैटभ का एक युद्ध हुआ, अन्त में सूर्य की लाली समुद्र और अंधकार दोनों में प्रतिम्बित हो उठी। जैसे विष्णु के पराक्रम पर मधु-कैटभ प्रसन्न हो उठे। सूर्य-विष्णु ने क्षितिज के अन्तरिक्ष में दोनों को अपने पैरों से दबा दिया और इधर पृथ्वी पर अपना प्रकाश बिखेरा।

प्रलय का समुद्र बीत गया। ब्रह्मा-अग्नि पृथ्वी पर चतुर्मुखी होकर सूर्य का स्वागत करने लगा। धरती चारों ओर टूटे हुए पहाड़ों और जल के

आवर्तों से भरी थी, जहाँ-कहीं मिट्टी मिल सकी, सूर्य की किरणों से उष्णता लेकर ब्रह्मा ने वहाँ वनस्पतियों और प्राणियों का प्रादुर्भाव किया। तब फिर से सर्जन का क्रम चला।

अब सरस्वती ने अपनी वीणा के स्वर धीमे किए और वह बजाती हुई अन्तरिक्ष में चली गयीं। उनकी स्वर-लहरियाँ निशा में तारों के साथ सूर्य की स्तुति गाती रहीं और अमरकंटक-माला का पाषाण अमृत बन कर तब से द्रवीभूत होता रहा। उसके प्रवाहित स्रोत ने तीन धाराओं में विभक्त होकर धरती पर अमृत की तीन रेखाएँ खींच दीं। उत्तर की ओर तमसा, पश्चिम की ओर नर्मदा और पूर्व की ओर शोण, अपनी कल-कल ध्वनियों में उन स्वर-लहरियों को छिपाए प्रवाहित होती हैं।

सरस्वती की वीणा से अभिमंत्रित उस अमृत जल को पी कर तमसा के किनारे वाल्मीकि आदिकवि हो गए, नर्मदा के किनारे रामटेक पर मेघदूत की कल्पना करके कालिदास विश्वकवि हो गए और शोण के तट पर जन्म लेकर बाणभट्ट ने संसार की कवि-कल्पना को ही सदा के लिए जूँठी कर दिया।

२. महामाया के गर्भ में

लम्बे नाल दण्ड के ऊपर लाल कमल की पंखुड़ियाँ छितरी हुई थीं और उनके बीचोबीच चतुर्मुख ब्रह्मा आसन जमा कर बैठे थे, मानो वे कमल के किंजल्क हों। उन्होंने अपने चारों ओर चिन्ताकुल होकर देखा कि न कहीं सूर्य दिखायी देता है न चन्द्रमा, और पर्वत न वृक्ष। केवल महासमुद्र की उत्ताल लहरें चारों ओर अपनी ध्वनि से दिशाओं को अवसन्न कर रही हैं।

ब्रह्मा ने सोचा—मैं जिस कमल पर हूँ उसका नाल दंड कहीं न कहीं कीचड़ से निकला होगा अतः नीचे पृथ्वी का होना अवश्यम्भावी है। वे पृथ्वी की खोज के लिए नीचे जल में उतरने लगे, लेकिन हजार वर्ष के बाद भी कुछ पता न चला। ब्रह्मा व्याकुल होकर किंकर्तव्यविमूढ़ थे कि आकाशवाणी हुई—'तपस्या करो।'

एक हजार वर्ष तक उसी कमल पर ब्रह्मा ने तपस्या की, तब फिर आकाशवाणी हुई—'रचना करो।'

ब्रह्मा की समझ में नहीं आता था कि वे इस अपार जलराशि में कौन-सी रचना करें। इसी बीच मधुकैटभ नाम के दो महाबली असुरों ने उन्हें घेर लिया। वे डर कर नीचे जल में उतरे, और वहाँ एक अद्भुत पुरुष को देखा जिसके नाभि से कमल का वह नाल दण्ड निकला था। उन्होंने देखा वह पुरुष श्याम-वर्ण, चतुर्भुज और पीताम्बरधारी था, उसके चारो हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म चार आयुध थे। शेषनाग की शय्या पर वह सो रहा था, यह देख कर ब्रह्मा ने निद्रा-देवी की स्तुति करना प्रारंभ किया, निद्रा ने विष्णु को छोड़ दिया, वह आकाश में चली गयी, विष्णु ने जागकर दोनों असुरों से युद्ध किया और इनको अपनी जंघा पर लिटा कर मार डाला।

इस घटना से आकर्षित होकर रुद्र भी वहाँ आ पहुँचे। प्रलय के बाद यह तीनों देव बचे थे; उन्होंने विचार किया अब क्या करना चाहिए ? उसी समय ऊपर आकाश में अपने प्रकाश से अन्तराल को भरती हुई देवी महामाया का दर्शन हुआ। देवी ने कहा—'तुम सृष्टि-स्थिति-संहार के तीन विशिष्ट रूप हो। तुमने इन दैत्यों को मारा है, अब प्रजाओं का सर्जन करो।'

ब्रह्मा ने नत होकर पूछा—'मातः ! क्या सर्जन करूँ, चारों ओर अपार जलराशि गरज रही है, पृथ्वी कहीं दिखायी नहीं पड़ती, न कोई भूत और न कोई इन्द्रिय ?'

इस पर रुद्र ने कहा—'ब्रह्मा ! तुम क्या अनमेल बात कर रहे हो ? मैंने प्रलय किया है, सर्जन का भी विज्ञान हम तीनों के भीतर है। विष्णु ! ब्रह्मा का अज्ञान दूर करो। इन्हें सर्जन की शक्ति दो।

यह सुन कर आकाश में स्थित देवी ने ईषद् हास्य किया। देवी की मुस्कुराहट के साथ ही घनन-घनन की अनुरणन-ध्वनि सुनायी पड़ी। देवों ने जो उधर आँख फेरी तो देखते हैं कि एक रत्न-जटित, मोती की मालाओं से सुसज्जित विमान सामने स्थित है, जिसकी किंकिणियों से यह मधुर ध्वनि उठ रही है। विमान का दरवाजा खुला था, जैसे उन देवों को चढ़ने के लिए उसने आह्वान किया हो। तीनों देव मुग्ध की भाँति उस पर आरूढ़ हो गए, फिर क्या था विमान मन की गति से ध्वनि करता हुआ आकाश में चल पड़ा।

उसने क्षणमात्र में सूर्य-चन्द्रमा से हीन प्रलय के महासागर का लोक पार कर लिया और परम स्वर्गीय एक दिव्य भूमि पर पहुँच गया। वहाँ पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह सभी विद्यमान थे; ब्रह्मलोक में यक्षपति देवेन्द्र, वरुण, मरुत तथा दूसरे यक्षों, गन्धर्वों और देवों के साथ चतुर्मुख ब्रह्मा की विद्यागोष्ठी चल रही थी। विष्णु और शिव आश्चर्य-विभोर होकर ब्रह्मा की ओर देख कर कहने लगे—'अरे ! यह दूसरा सनातन ब्रह्मा कौन है ?'

विमुग्ध ब्रह्मा ने कहा—'मैं न तो इस ब्रह्मा को समझ पा रहा हूँ, न

जान पा रहा हूँ कि इस सृष्टि का स्वामी कौन है और अब तो आप लोगों को भी नहीं समझ पा रहा हूँ।'

क्षण भर में ही विमान मन की गति से आगे चला और वहीं किसी कैलाश के शिखर पर पहुँच गया, वहाँ पंचानन शंकर की समाधि लगी थी। नंदी आदि गणों के साथ शिव के पुत्र गजानन और षडानन क्रीड़ा कर रहे थे। दूसरी ओर भूत-वैताल शंकर का जयनाद लगा रहे थे।

विमान में बैठे हुए शिव ने यह सब देखा। अब तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

वे आश्चर्य में ही थे कि विमान आगे किसी वैकुंठ में पहुँच गया। वहाँ शिव और ब्रह्मा ने उत्फुल्ल आँखों से गरुड़ के ऊपर आसीन एक दूसरे चतुर्भुज विष्णु को देखा और देखा लक्ष्मी को चामर डुलाते हुए। अब उन्होंने विमान पर बैठे हुए विष्णु की ओर आँखें उठायीं।

विष्णु ने सरल भाव में शिव की ओर देखते हुए कहा—'अब तो मैं भी आप लोगों की भाँति किसी सृष्टि-नियन्ता का खिलौना मात्र हूँ।'

उनकी बातचीत समाप्त भी न हो पायी थी कि विमान एक द्वीप में उतर पड़ा, जिसके चारों ओर अमृत का समुद्र लहरें मार रहा था। उसमें जल-जन्तु ऊपर उतरा रहे थे और द्वीप की भूमि पर अशोक, बकुल, पारिजात आदि वृक्षों की छटा क्षण-क्षण में नूतन रमणीयता का आविर्भाव कर रही थी।

देवों ने दूर से ही देखा—इन्द्रधनुष के समान रंग—विरंगे आस्तरणों से परिमंडित और रत्नजटित पर्यंक पर नव-यौवना कुमारी बैठी हुई है, उसके हजार हाथ और हजार आँखें हैं, अनेक प्रकार के आयुध उसके हाथों में हैं, उसका वर्ण लाल है और उसकी सूर्य-सी कांति चकाचौंध पैदा कर रही है। अमर कन्यायें उसे चारों ओर से घेर कर उसकी सेवा कर रही हैं।

अपूर्व स्वरूप की यह महेश्वरी न तो अप्सरा मालूम पड़ती थी, न गन्धर्वी और न कोई देवांगना। शिव और ब्रह्मा उसे देख कर आत्मविभोर हो गए। पर विष्णु ने थोड़ा स्थिर होकर अपना विचार व्यक्त किया—'निश्चय

ही यह देवी हम सभी की उत्पत्ति का हेतु है। यह महाविद्या, महामाया और कभी न नष्ट होनेवाली पूर्ण प्रकृति है, यह ही पूर्ण ब्रह्म है।'

देवी की ओर आकृष्ट होकर द्वार-देश से तीनों देव प्रणाम करने के लिए आगे बढ़े। ज्यों ही उन्होंने भीतर प्रवेश किया कि महादेवी के अधरों पर एक मन्द हास्य चमक उठा तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही तीन नव-यौवना कुमारी के रूप में परिवर्तित हो गए और तल्लीन होकर देखने लगे—उस महामाया के चरणों में और पादपीठ में अनेक गन्धर्व, किन्नर, यक्ष, देव, दानव आदि आ-आ कर अपना मस्तक झुका रहे हैं।

३. तुम लोक-मानस में न बैठ सके

सौ पंखुड़ियों का शुभ्र कमल हिम की चट्टान के पास खिला था, उसका मृणाल दण्ड मानसर से निकला था। उसके हरे-भरे चौड़े पत्ते मोती-से चमकते मानसर के जल पर मरकत मणि के आसन बन रहे थे। पंखुड़ियों के बीच में चमकती हुई पराग की सुनहली छतरी जैसे प्रजापति ब्रह्मा की स्वतः निर्मित आसन्दी थी। उस पर बैठ कर ब्रह्मा वेद-विज्ञान का अनुशीलन कर रहे थे और दूसरी ओर कमल की सहस्र पंक्तियाँ अपने सौरभ से धरती, पहाड़ और आकाश को भर रही थीं।

कमल पर बैठ कर चिन्तन करते हुए ब्रह्मा को अचानक कमलचरणों में बजता हुआ नूपुर सुनायी पड़ा। उन्होंने क्षण भर के लिए अपनी पलकें ऊपर उठायीं, तो पलकें उठी ही रह गयीं। देखा—कमल-जैसे कोमल मुख-मंडल में कुवलय-सी आँखें चमक रही हैं। प्रजापति को अपनी ही रचना पर आश्चर्य हुआ। वे स्तब्ध हो उठे, जैसे किसी चिन्तन में डूब गए हों। और आधे मुहूर्त में ही, उन्होंने अपनी पलकें नीची कर लीं, जैसे वे फिर वेद के विज्ञान का अवगाहन करने लगे।

अब मोहिनी ने कमल-सी हथेलियों को नृत्य की मुद्रा में संधान किया और छमछम करती हुई मरकत-जैसे चमकते कमल के पत्तों पर नाच गयी। उसने नाचते हुए कमल के फूल, अपनी नीलम-सी वेणी में गूँथ लिए और उसी भाँति नाचती गयी। नीचे पत्ते मरकत मणि की भाँति चमक रहे थे, ऊपर नीलम की सघन ज्योति बिखेरती वेणी लहरा रही थी और दोनों के बीच में उस मोहिनी के कमल पुष्प जैसे अंग, सौरभ बिखेरते हुए, नृत्य की मुद्रा में लहर रहे थे।

उसके नृत्य की छम-छम ध्वनि, बर्फ की गुफाओं में प्रतिध्वनित होने लगी। कमलों की कतारें प्रतिध्वनि के संचार से डोल उठीं, हृदय में एक नए स्पर्श ने बुद्धि की चिन्तनधारा को वियुक्त कर दिया। ब्रह्मा ने अन्तःकरण को सँभाला, पर जैसे तैल-लिप्त शरीर पर जल स्पर्श नहीं करता वैसे उनका हृदय वेद-विज्ञान के चिन्तन पर नहीं टिक पा रहा था। प्रजापति को उसकी सृष्टि ने ही संशय में डाल दिया। लेकिन वह प्रजापति था, उसने भाव के भूखे हृदय को नए भाव-क्षेत्र में ले जाकर पटक दिया। उसने मोहिनी से कहा—माता ! यहाँ कहाँ ? मैं इस समय सृष्टि की व्यवस्था और वेद के नये गूढ़-ज्ञानों के चिन्तन में लगा हुआ हूँ। मुझे क्या आज्ञा है ?

नूपुर का बजना बन्द हुआ। मुस्कराती हुई मोहिनी ने आम्र के किसलय जैसे अधर खोले—'आज्ञा देने नहीं प्रजापति ! सेवा करने आयी हूँ। कमलों के सौरभ से भरित इस हिमांचल प्रदेश में मैं तुम्हारे हृदय को अपने भावों से भरने आयी हूँ। मैं तुम्हारे हृदय की शक्ति बनूँगी, इस शक्ति को अपनी आसक्ति दीजिए।'

'मोहिनी ! आसक्तिरूप में होती है। और तुममें वह रूप है, इसमें क्या सन्देह ? पर यह प्रजापति रूपों की रचना करता है, उन्हें बनाता और बिगाड़ता है। मैं हूँ इस सृष्टि का विज्ञान, अन्तःकरण में भावों के सरोवर नहीं हैं, पहाड़ों को फोड़ कर निकलनेवाले चिंतन के निर्झर हैं जो सृष्टि की धरती को सींचते हैं। भावों के अनेक सरोवर भरते हैं। पर स्वयं चट्टानों पर पथ-सन्धान का व्यायाम करते हैं। मैं सृष्टि के निर्माण में श्रम करने वाला हूँ, मैं मिट्टी के एक-एक कण, पत्थर की एक-एक चट्टान, नक्षत्रों की एक-एक ज्योति की छानबीन करने वाला और सबके रूप को नग्न कर उनके मूल कारण को देखने वाला हृदयहीन, बुद्धि का इन्द्रजालिक हूँ। यदि तुम शक्ति हो तो उसकी उपासना शिव करता है, और यदि तुम भाव-भक्ति हो तो उसकी उपासना विष्णु करता है। मैं तो केवल प्रजापति हूँ। निर्माण मेरा काम है, यह काम ऐसे हैं कि मुझे सतत चिन्तन करना पड़ता है। ज्ञान-विज्ञान का चिन्तन,

वाणी का सतत मनन ही हमारे अन्तःकरण को आच्छन्न किए रहते हैं, तुम्हारे भावों की अनुभूति के लिए मेरे अन्तःकरण में स्थान नहीं है।'

'सृष्टि के विधाता! यदि मेरी उपेक्षा तुम्हीं कर दोगे तो तुम्हारी सृष्टि की परम्परा ही नष्ट हो जायगी। तुम्हारे वेद में भी तो यही उद्गीथ है कि नारी की पूजा ही प्राणी को देवता बना देती है। देखिए, जैसे विष्णु की लक्ष्मी उनकी अर्द्धांगिनी बनकर उन्हें सदैव सहयोग दिया करती हैं। मैं भी आपके चिन्तन, अनुशीलन और निर्माण में सदा सहायक रहूँगी। लेकिन भावना से व्याकुल सु-मन का पुष्पोपहार लिए मुझको आप अनादृत न करें।' कहते-कहते मोहिनी ब्रह्मा के चरणों पर झुक गयी, और फिर उसने आँखों की स्निग्ध ज्योति से उनके कमल की पंखुड़ियों को एक बार श्यामल बना दिया।

'मोहिनी! मैं तुम्हारे इस रूप पर मुग्ध होनेवाला नहीं हूँ। यह रूप मेरी आँखों में कोई शाश्वत रूप नहीं। मिट्टी के इन कणों को मैं सदैव जोड़ता और तोड़ता रहा हूँ। मैंने ही अणु और परमाणु जोड़ कर तुम्हारे इस रूप का ढाँचा खड़ा किया है। मेरी विज्ञानमयी बुद्धि के सामने तुम्हारा यह रूप नहीं प्रकाशित हो सकता, क्योंकि उसके समक्ष वही अणु-परमाणु एक-एक करके आ रहे हैं।'

'सृष्टि के पिता! तब आप मुझे अपनी दासी बना लें और मेरी शक्ति देखें। मैं आपकी सेवा में पहुँचते ही आप के अन्तःकरण में एक नया हृदय पैदा करूँगी। हृदय का निर्माण करना मेरा काम है। आप का नहीं।'

इतना कह कर मोहिनी मन्द गति से छमाछम-छमाछम नाचने लगी। उसने कमल की पँखुड़ियों को तोड़ कर, ब्रह्मा के चरणों पर बिखेर दिया। प्रजापतिका अन्तःकरण काँपने लगा और उस कंप से उनका अंशुक हिल उठा। वे संभ्रम में पड़ गए और मोहिनी ने दृढ़ होकर कहा—'प्रजापति! लक्ष्मी के कारण विष्णु और शक्ति के कारण शिव, तुम्हारी रची हुई लोक-सृष्टि में घर-घर याद किए जाएँगे, लोक-जीवन में उनका चरित्र गा-गा कर लोग भाव-रस का पान करेंगे, पर तुम्हारी ही सृष्टि में लोग तुम्हारा नाम तक न लेंगे।

तुम्हारे चरित्र की कोई रूपरेखा भी न जान पाएँगे। इसीलिए मैं कहती हूँ, आप मेरी सेवा स्वीकार करें, मैं लोक के हृदय-बीच आप की अमर प्रतिष्ठा करूँगी।'

इतने क्षणों के बीच ब्रह्मा अपने ज्ञान पर अटल हो गए थे। उन्होंने ध्यान किया, जैसे किसी को आह्वान करने का उपक्रम कर रहे हों। फिर शान्त भाव से कहा—'देखो, मोहिनी! तुम मेरी कन्या हो, तुमने नृत्यकला के ज्ञान का जो प्रदर्शन मेरे सामने किया, मैं उससे संतुष्ट हूँ। मैं अपनी सारी सृष्टि को इसी प्रकार कलापूर्ण और आनन्दमग्न देखना चाहता हूँ। अब तुम थक गयी होगी, जाकर विश्राम करो।'

तब तक सामने के शिखर से ब्रह्मा के मानस पुत्र अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा आदि ऋषियों का समूह नीचे उतर रहा था। मोहिनी की आँखें क्रोध से लाल हो गयीं, दीन होकर उसने आँखों से आँसू गिरा दिए और आवेश में आकर जाते-जाते कहा-मुझे नर्तकी कहनेवाले वेद के पंडित! जाओ, तुम लोक के हृदय में न बैठ सकोगे। सृष्टि के पितामह! आपने इस विनीत दासी की जो अवहेलना की है वह मेरी उपेक्षा नहीं, आपकी अपनी सृष्टि की अवहेलना है। जिस नर्तकी को आप आश्रय नहीं दे सके, वह आपकी सृष्टि में कदम-कदम पर डेरा डालेगी और जाइए, अब आपकी सृष्टि आपके वश में नहीं रही। अब तो आपकी स्तुतियाँ भी कार्यों में विघ्न डालनेवाली होंगी। सब देवों की पूजा होगी लेकिन आपको लोक में कौन पूछेगा? शिव और विष्णु की पूजा के लिए देवालय बनेंगे किन्तु आपका नाम तक याद रखने को गीत नहीं गाये जायँगे।'

वह क्षण भर में बिजली-सी गायब हो गयी और विज्ञान का चिन्तक वह ब्रह्मा, विजयी होकर भी, इस चिन्ता में डूब गया कि 'क्या मोहिनी से संघर्ष करने में मेरी प्रजा अडिग रह सकेगी?'

४. शिव और संहार

देवों का समाज व्याकुल था। कुछ सोचते, कुछ विचारते और कुछ कहते-सुनते हुए वे कैलाश के समीप पहुँच रहे थे।

'उदारता और शौर्य के एकमात्र आधार भगवान् शिव हम पर अवश्य कृपा करेंगे।' किसी देव ने कहा।

'भोलेनाथ हैं वह शिव। जब जैसा मन में रम गया उसके, कर दिया वैसा उसने। वह हमको सृष्टि की विषमताओं के ऊपर कल्याण के अक्षय विश्वास का उपदेश दिया करता है। देखते नहीं—लपेटता है चिता की भस्म, पहनता है साँपों का गहना, ओढ़ता है हाथी की खाल, खाता है धतूर और पीता है कालकूट, पर उसके सिर पर रहता है सुधाकर और गंगा की अमृत धारा उसकी जटा में लुप्त है। सृष्टि में जो उपेक्षित है वह शिव के शरीर का प्रसाधन है और जो अपेक्षित है उसकी उन्हें परवाह नहीं।'

इन्हीं बातों के प्रसंग में विष्णु, ब्रह्मा और इन्द्र के साथ सभी देव कैलाश पहुँच गए। समाधिस्थ शिव को जगाने के लिए स्तुतियाँ होने लगीं। दो घड़ी तक स्तुति होती रही। शिव समाधि से जाग कर उठ खड़े हुए और देवों ने प्रणाम कर निवेदन करना शुरू किया—

'भगवन्! तारकासुर के मारे जाने के बाद भी उसके तीन पुत्रों ने लौह, रजत तथा स्वर्णमय तीन पुर बना कर हमारे सभी अधिकार छीन लिए हैं। एक लोक से दूसरे लोक में हमारा आना-जाना बन्द हो गया। आमोद-प्रमोद के सभी ऐश्वर्य उनके अधिकार में हो गए। साधना और सिद्धि के सभी स्थलों पर उनके गण पहरा दे रहे हैं। देवाधिदेव! अधिक क्या कहें अब त्रिपुरों का नाश कर हमारी रक्षा कीजिए। हमारा शिवत्व असुर छीन बैठे हैं और हम मारे-मारे फिर रहे हैं। हम अमृत होकर भी शक्तिहीन हैं।

योगेश्वर भगवान् शंकर कुछ क्षण मौन रहे, फिर उन्होंने कहना प्रारंभ किया—'आश्चर्य है कि देवगण अमृत होकर भी मारे जाते हैं, जिनके लिए मुझे कालकूट पीना पड़ा था। अवश्य ही तुम कर्तव्य से गिर गए हो और भोग-विलास की साधना में ही रत हो, दूसरी ओर कर्तव्यनिष्ठ असुरों ने अपने कर्त्तव्य-बल से तुम्हारे सभी कल्याण और ऐश्वर्य छीन लिए हैं। शिवत्व के शिखर पर चढ़े हुए वे असुर तुम्हारी भर्त्सना न करें तो क्या करें ?"

'पर भगवान् ! आप जैसा रक्षक होते हुए हमारा अपमान हो।'

'मैं रक्षक हूँ, तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ किन्तु उनका विनाश कैसे करूँ, जो कर्तव्य की आग में तप कर शिवत्व की गोद में बैठे हुए हैं। नहीं जानते, आज त्रिपुरों का राज्य पतिव्रता स्त्रियों से शक्तिमान् है और उन वीर-प्रसूताओं से वह सदैव अजेय बनता जा रहा है। तुम्हारे यहाँ तो एकमात्र नृत्य-गान और पान की गोष्ठियाँ हुआ करती हैं, पर उनके राष्ट्र में व्यायामशालाएँ और वेदों के अध्ययनागार हैं। वहाँ के धर्मशील, स्वाध्यायी और बलवान् निवासी प्रतिदिन शिव की पूजा और अग्निहोत्र करते हैं, उनका विनाश करना विश्वधर्म की मर्यादा तोड़ना है।'

'हे गौरीशंकर ! त्राहि माम् ! त्राहि माम् ! सारी सृष्टि आप के प्रभुत्व में हैं। सभी मर्यादाएँ आपका ही अनुसरण करती हैं। हमारा अपराध क्षमा हो पर हमारी रक्षा हो।'

'देवो ! उलटा समझ रहे हो, मर्यादाएँ मेरे अधीन नहीं हैं। मैं मर्यादाओं के अधीन हूँ। तुमने सूर्य और चन्द्रमा को तो उदय होते देखा है, ये दोनों उस विशाल रथ के दो पहिए हैं जिसका ऊपरी आवरण आकाश है। संवत्सर मुहूर्त और कला उन चक्रों के जोड़ हैं। उदयाचल और अस्ताचल उस रथ के जुआ हैं, श्रद्धा रथ की गति है और दिशाएँ चरणचिह्न। उस रथ पर सृष्टि का एकमात्र शिव बैठकर चला करता है, ऋषिगण उस रथ के हाँकने की शिक्षा देते हैं और तब कोई ब्रह्मा उसका सारथी बन पाता है। सृष्टि के समस्त तत्त्व, चेतनता और जड़ता उस रथ की मर्यादा में बँधे हैं। जो मर्यादा

के अनुकूल होकर चल रहा है, उसका विनाश करने का अर्थ है सृष्टि के इन तत्त्वों में उथल-पुथल करना, तत्त्वों में उथल-पुथल करने का अर्थ है मैं जिस रथ पर बैठा हूँ उसी को विश्रृंखल करना, फिर तो मैं भी मर्यादा से गिर जाऊँगा। तो फिर क्या वह ठीक होगा? अतः जाओ कर्तव्य-पालन करो, जब त्रिपुर अपनी मर्यादा से गिर जाएँगे, हमारे उस रथ के पहिए के नीचे दब कर चकनाचूर हो जाएँगे।' इतना कह कर शिव अन्तर्धान हो गए।

देवों की आशा पर तुषारापात हो गया, पर विष्णु उन्हें सन्तोष तथा भविष्य की आशा देते हुए अपने साथ ले गए।

एक दिन जब त्रिपुर में बड़े आमोद-प्रमोद से कोई पर्वोत्सव मनाया जा रहा था, एकाएक अपनी वीणा बजाते हुए ऋषिवर नारद दैत्यराज की सभा में पहुँच गए। स्वागत और सम्मान स्वीकार करने के बाद उन्होंने कहा—'दैत्य-राज! आपको पता नहीं, आपके नगर में एक महान् सिद्ध ब्रह्मर्षि अपने शिष्यों के साथ आया हुआ है।'

'ब्रह्मर्षि नारद! आपसे बढ़ कर वह दूसरा ब्रह्मर्षि कौन है?'

'राजन्! दर्शन करने के बाद मेरा अन्तःकरण इतना प्रभावित हुआ कि मैं तो स्वयं उनका शिष्य बन गया।'

'तो हम भी दर्शन करेंगे उन ब्रह्मर्षि का!'

अब क्या था सभी त्रिपुरनिवासियों में यह समाचार बिजली की तरह कौंध गया। प्रथम-दर्शन में ही दैत्यराज के साथ कितने प्रमुख असुर उन ब्रह्मर्षि के शिष्य बन गए और ब्रह्मर्षि ने दीक्षा के बाद उपदेश देना प्रारम्भ किया—'देखिए दैत्यराज! प्राणी के लिए सुख ही स्वर्ग है और दुःख ही नरक। सुखों को भोगते हुए इस देह को समाप्त कर देना जीवन का सच्चा मोक्ष है। शरीर का आनन्द ही शिव है, नहीं तो वह शव मात्र है। मैंने आपके राज्य में देखा, सभी शिवपूजा और तप की कोरी साधना में लगे हुए हैं। स्त्री जाति समाज की शक्ति है, उसे वे मर्यादाओं में बाँध कर कुंठित कर रहे हैं। अपनी स्त्री-शक्ति को स्वतंत्र और विकसित होने देना चाहिए। समाज के बन्धन उसे वैसे ही हैं जैसे बहती हुई नदी के सामने पहाड़ खड़ा हो जाय।'

'भगवन् ! आपकी बातें आँखों के सामने तो सच्ची दीख पड़ती हैं पर...'

'पर क्या ? पहले इनका पालन करो, फिर सारा रहस्य समझ सकोगे।' कहते हुए ब्रह्मर्षि मौन हो गए। असुर श्रद्धा से विनत ताकते रहे, पर जल्दी ब्रह्मर्षि का मौन न भंग हुआ, और जब भंग हुआ, उसने अपनी शिक्षाओं में असुरों को लपेट लिया।

त्रिपुर में नारद के गुरु को आए हुए अब कुछ काल बीत चुका था। नवयुवकों का समाज तो तत्काल ही उनका शिष्य बन गया। पतिव्रत धर्म और समाज के बन्धनों से स्त्रियाँ मुक्त हो गयीं। सभी प्रकार के आचरणों में स्वेच्छाचारिता छा गयी। शरीर के उपभोगों के सामने समाज का शारीरिक और आत्मिक विकास नष्ट हो गया। उपभोगों की खोज में पागल युवक वेदों के स्वाध्याय से दूर हो गए। नगर की व्यायामशालाएँ सूनी हो गयीं। फिर भी त्रिपुर समझते थे अब हम पहले से अच्छे धर्म में आ गए हैं, उनके यह समझने के बाद नारद अपने गुरु को छोड़ कर गायब हो गए।

शीघ्र त्रिपुर के इस आत्म-पतन का समाचार देवलोक पहुँच गया। अब विष्णु ने देवों को शोक की रात्रि से जगाया और वे कैलाश शिखर पर डट गए, शिव की स्तुतियाँ होने लगीं। शिव समाधि से जगे, उन्होंने देखा देवों की पल्टन खड़ी है। क्षण भर मौन रहने के बाद उन्होंने आश्वासन दिया—'देवो ! मैं समझ रहा हूँ तुम्हारे उद्देश्य को, पर मैं तो केवल तुम्हारा शिव हूँ। एक वह शिव भी है जिसकी मर्यादा में सृष्टि के समस्त तत्त्व बँधे हैं। आज त्रिपुरों का राष्ट्र उस मर्यादा के विपरीत हो गया है अतः उनका विनाश भी ध्रुव है। तुम सावधान हो जाओ यह देखने के लिए।'

इसके बाद परम योगेश्वर शिव ने एक अद्भुत रण-प्रयाण किया, समस्त सृष्टि ही शिवमय दीख पड़ने लगी, अपने विलास और पान-गोष्ठी में अलसाए हुए त्रिपुर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे कि युद्ध के डंके साथ ही दूसरे क्षण नोंक से तीक्ष्ण ज्वाला बरसाता हुआ भगवान् शिव का एक बाण तीनों पुरों को बेधता हुआ निकल गया। गगनचुम्बी आग की लपटों में असुरों का राष्ट्र और उनका वैभव स्वाहा होने लगा।

५. जिसे कर्तव्य की धुन थी

बात तब की है जब देवों ने सिन्धु-मन्थन का विज्ञान नहीं खोज निकाला था और वे अमृत पीकर अमर नहीं हुए थे। देवलोक में उनकी सभा बैठी थी। पर वातावरण गम्भीर था, कोई बोल नहीं रहा था। सहसा बृहस्पति के बड़े पुत्र कच ने वातावरण भंग किया—'मैं निभाऊँगा यह कर्तव्य। जैसी भी सेवा आवश्यक होगी, करके आचार्य शुक्र और उनकी पुत्री देवयानी को प्रसन्न करूँगा, मैं संजीवनी विद्या प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प करता हूँ।'

वह संकल्प हुआ था देवलोक में और आज वर्षों बीत गए असुर लोक में कच को शुक्राचार्य का शिष्य बने हुए। वह तन, मन और वचन से आचार्य तथा उनकी पुत्री की एकनिष्ठ सेवा कर रहा है। ब्रह्मचारी कच का सुडौल शरीर, जागृत प्रतिभा और उदार स्वभाव देखकर पिता और पुत्री दोनों बहुत आकर्षित थे। पुत्री तो कच की सेवा से बहुत प्रसन्न होकर पिता से उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती थी, पर इतना होने पर भी अभी तक संजीवनी विद्या का प्रसंग न आया।

शायद संजीवनी विद्या प्राप्त करने का वह प्रसंग अभी न ही आता कि संयोगात् असुरों की क्रूर दृष्टि कच के ऊपर पड़ गयी—यह बृहस्पति का बच्चा हमारी संजीवनी विद्या सीखने आया है, जिससे आचार्य की भाँति यह भी मारे गए देवों को पुनः जीवित किया करे। वह ताक में लग गए कि कब एकान्त मिले और हम उसे समाप्त कर दें।

कच नित्य आचार्य की गायें चराता और जंगल से लकड़ी लाता; पुष्प-चयन आदि साधारण कार्यों की तो कोई बात ही नहीं थी। एक दिन जंगल में अकेले गायें चराते हुए कच की असुरों से भेंट हो गयी। फिर क्या था? असुरों ने कच को काट डाला और उसके शरीर को टुकड़े-टुकड़े करके कुत्तों

और सियारों को बाँट दिया। सायंकाल गायें लौटीं पर कच न आया। आचार्य की पुत्री देवयानी व्याकुल हो उठी। उसने अपने पिता से कहा—'पिताजी, आप अग्निहोत्र कर चुके और सूर्य भी अस्ताचल की ओर चले गए, पर कच न आए। मेरा मन उद्विग्न है। निश्चय ही उनको मार डाला गया है, पर मैं उनके बिना जीवित न रह सकूँगी।'

आचार्य की भी प्रियता शिष्य पर कम नहीं थी, उन्होंने कहा—'बेटी! चिंता न करो, मैं कच को अभी जीवित किए देता हूँ।' फिर तो आचार्य ने अपनी संजीवनी विद्या का प्रयोग किया और कच कुत्तों और सियारों का पेट फाड़ कर अपने गुरु के सामने खड़ा हो गया। देवयानी ने मानो जीवन-लाभ किया और वह बार-बार कच से उसके मारे जाने की बातें पूछने लगी।

देवयानी और आचार्य शुक्र की कच के प्रति यह उदार-भावना असुरों से छिपी न रही। लेकिन यह जानकर भी वे अपने दुराग्रह से विरत न हुए और एक दिन जब कच अकेले फूल ले आने के लिए वन की ओर जा रहा था, असुरों ने उसे मार डाला तथा इस बार उसे चट्टान पर रख कर अच्छी तरह पीसा एवं पीसने के बाद समुद्र के जल में घोल दिया। अब वे आस्वस्त थे कि समुद्र के अपार जल में घुले हुए कच के शरीर के लिए संजीवनी विद्या क्या काम देगी? इससे मालूम पड़ता है कि बुद्धि असुरों के पल्ले न पड़ी थी।

कच के आने में जब देर हुई, देवयानी ने पिता से अपनी चिन्ता व्यक्त की। फिर क्या था, वही संजीवनी विद्या का प्रयोग और कच गुरु के सामने खड़ा था।

अब तो असुर चिन्तित हुए, कच का जीवित होना उनकी नयी प्रतिक्रिया का कारण हुआ। आखिरकार एक दिन जब कच उन्हें अकेले जंगल में मिला, उन्होंने उसे मार डाला और साथ ही आग में जला कर राख कर दिया तथा वह राख मदिरा में घोल दी। फिर सायंकाल होने के पहले ही किसी न किसी बहाने आकर वह सम्पूर्ण मदिरा आचार्य शुक्र को पिला दी।

सायंकाल आया और चिन्तायुक्त देवयानी का आग्रह आचार्य के सामने उपस्थित हो गया। आचार्य दुखी हुए और असुरों के ऊपर क्रुद्ध भी, उन्होंने शांत भाव से कहा—'बेटी ! जाने दो कच को। मैं जितनी बार जीवित करूँगा, असुर उसे मार ही डालेंगे। इनकी नीचता की भी सीमा नहीं रही। वस्तुतः ये मुझसे द्वेष रखते हैं जो मेरे शिष्यों का अपकार करते हैं।······ तुम्हें कच की चिन्ता क्या ? अरे मेरे प्रभाव से बड़े-बड़े ब्राह्मण, देव और असुर तुम्हारे सामने मस्तक झुकाने आते हैं।'

देवयानी का मुखमंडल उदास हो उठा और उसने निराश होकर पिता से कहा—'यदि महर्षि अंगिरा के पवित्र कुल में उत्पन्न ब्रह्मचारी कच के लिए शोक न किया जायगा तो शोक के पात्र कौन होते हैं, क्या यह भी बताइएगा ?'

अन्त में जब पुत्री ने कहा—'मेरी आँखों के सामने कच की तपस्या और कार्यकुशलता रह-रह कर याद आती है, मेरा भोजन करना दुष्कर है, मैं भी अब उसी मार्ग का अनुसरण करूँगी।' तब तो आचार्य उसके हठ को नहीं टाल सके।

पर यह क्या ? यह तो नया धर्मसंकट उपस्थित हुआ, ज्योंही संजीवनी विद्या का प्रयोग करने के बाद गुरु ने कच को पुकारा उनके पेट से आवाज आयी—'आचार्य मुझ पर प्रसन्न हों, मैं कच आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ।" और फिर सारा रहस्य प्रकट होने लगा। मन ही मन शुक्र विक्षिप्त हो उठे—'बार-बार अपनी रक्षा के निमित्त दूसरे का अहित सोचने वाला अपना ही सर्वनाश कर डालता है। वही मूर्ख असुरों ने किया और मूर्खों का आचार्य ही मदिरा पीता है या यों कहना चाहिए पागल ही मूर्ख का गुरु बन बैठता है।'

फिर वे कच से बोले—'बेटा ! इस समय तुम बड़े कष्ट में होगे, पर क्या करूँ, बड़ी उलझन में हूँ, तुम्हारा जीवन मेरी मृत्यु बन रहा है।···· पर चिन्ता नहीं, मैं अपनी गोपनीय संजीवनी विद्या तुम्हें सिखा रहा हूँ। तुम मेरा

पेट चीर कर निकलो और पुनः मुझे भी जीवित करो। पर याद रखना, मेरी यह गोपनीय विद्या लेकर मेरे प्रति सदैव धर्मयुक्त विचार रखना।'

बेचारी देवयानी दैव की यह लीला, असुरों की यह दुष्कृति दुःख, कौतूहल और आशा से देखती रही। उसने आँखें मूँद लीं, पर थोड़ी देर में उसके सामने पिता शुक्र और प्रिय कच गुरु-शिष्य भाव से पुनः दीख पड़ने लगे। शुक्राचार्य ने देवजाति के लिए दुष्कर कर्त्तव्य निभानेवाले कच की भूरि-भूरि प्रशंसा की और अपनी जाति के लिए मूर्खता करनेवाले असुरों की भर्त्सना की।

कच का व्रत समाप्त हुआ है और वह आचार्य का आशीर्वाद लेकर देवलोक जाने को तैयार हुआ। विदा का समय था, एक ओर तरुण कुमार कच खड़ा था जिसके अंग-अंग से ओज, तपस्या और तरुणाई की तेजस्विता फूट पड़ रही थी पर वह संयत था, किसी बंधन से आत्मा को बाँधकर। दूसरी ओर देव-बालाओं से भी अनुपम सौन्दर्य लेकर तरुणाई की चाँदनी छिटकाती हुई अलस आँखें लिये, देवयानी उससे अत्यन्त आदर और आग्रह की बातें कह रही थी और वह असंयत हो रही थी स्वयं की अपनी प्रकृति से।

'महर्षि अंगिरा के पौत्र ! अब आप अपनी कुलीनता, तपस्या, विद्या और संयम के कारण बहुत ही भव्य प्रतीत हो रहे हैं। आप सब प्रकार से मेरे पूज्य हैं, मेरे हृदय की कामना है कि आप मेरे प्रेम को स्वीकार कर मुझे वैदिक रीति से अपनी सहधर्मिणी बनायें।'

'आचार्य-पुत्री ! जैसे आचार्य भार्गव मेरे माननीय हैं, वैसे ही उनकी पुत्री होकर तुम भी मेरी पूज्या हो। सोचो तो तुम आचार्य की पुत्री हो और मैं भी आचार्य के पेट में रहा हूँ, धर्म ने तुमको मेरी बहन बना दिया। अब ऐसी बातें तुम्हें नहीं कहनी चाहिए ! मेरे हृदय में तनिक भी रोष तुम्हारे प्रति नहीं है, मैं तो तुम्हारा आशीर्वाद चाहता हूँ अपने मंगल के लिए।'

'कुमार कच ! तुम्हारे विद्यार्थी-जीवन में मैंने जो उपकार किए थे, क्या वे तुमको विस्मृत हो गए.... ?'

'मुझे कभी विस्मृत नहीं होंगे और अनुरोध है कि आचार्य से प्रसंग आने पर तुम सदा मेरा स्मरण कराओगी ।'

प्रश्न और उत्तरों की कोई सीमा न थी, पर कुछ देर बाद कच ने कहा—'अब समय थोड़ा है ।'

देवयानी की लाल आँखें निराशा और स्वाभिमान के आँसुओं से डबडबा आईं, तथा उसने कुछ इने-गिने वाक्य अन्तिम बार कच से कहे ।

और कच 'आचार्य पुत्री ! तुमने वासना के वशीभूत होकर जो यह शाप दिया है, मैं स्वीकार करता हूँ । मेरी यह विद्या भले ही न सफल हो पर मैं जिसको इसे सिखा दूँगा वह तो इसे सफल करेगा ही ।' यह कहते हुए आकाश मार्ग से देवलोक की ओर चल पड़ा ।

६. पृथिवी का यज्ञ

विन्ध्याचल आज बूढ़ा हो गया है और हिमालय जवान है। कभी विन्ध्याचल जवान था और हिमालय बच्चा। तब कैलाश-सा उसका दुध-मुँहा मुख आकाश गंगा की किरणों का पयपान किया करता था। कैलाश की इस दिव्य भूमि पर नटराज शंकर समाधि लगाया करते थे, विन्ध्याचल का हरा-भरा, निर्झर नदियों के कलकल से पूर्ण दिव्य प्रांगण सुर-बालाओं और देवों की भोग-भूमि था, उसमें बसी हुई अमरावती कला और वैभव में अपनी शान नहीं रखती थी, उन नदियों के किनारे देवों के संरक्षण में महर्षि ऋग्वेद का गान गाते थे और नयी-नयी वैज्ञानिक चेतनाओं का सूत्रपात सोचते थे। पूरब और पश्चिम में समुद्र था, ब्रह्मावर्त का प्रदेश कैलाश की तहलटी से इस विन्ध्यवसुधा को मिलाता था।

देवों के पट्टीदार दानव भी बलपूर्ण थे, किन्तु थे बुद्धिहीन। उन्हें उनकी तामसी प्रवृत्तियों के कारण महर्षियों का सहयोग नहीं प्राप्त था, अतः देव तो दिव्य नगरी में निवास करते थे और दानव उस राज्य से निकाल कर दक्षिण ओर भगा दिये गये थे। जहाँ पहाड़ों में आखेट और फलों पर उनका जीवन बीतता था। वे न वहाँ अन्न उपजा सकते थे, न नगर-गाँव बसा सकते थे तथा इन कर्मों के लिए उनके पास बुद्धि भी नहीं थी।

परिवर्तन का चक्र घूमा, एक साथ दो घटनायें हुईं। पहली घटना थी दानवराज हिरण्याक्ष ने अपना बल एकत्रित कर देव-नगरी अमरावती पर चढ़ाई कर दी। देवगण युद्ध में सफल न रहे, उन्हें गहरी हार खानी पड़ी, उन्होंने वहाँ से पलायन प्रारम्भ किया, पर दक्षिण जा नहीं सकते थे उधर दानवों का ही मण्डल था, वे उत्तर की ओर भागे और वहीं शरण प्राप्त कर सके, किन्तु निचले भाग के उन जंगलों में फलवाले वृक्ष भी नहीं मिलते थे,

किसी प्रकार कृषि और पशुपालन की व्यवस्था हो सकती थी। देवों में से कुछ अपने स्वामी इन्द्र के साथ यह शोक-सन्ताप लेकर कैलाश की ओर अपने मित्र किन्नरों और गन्धर्वों के पास पहुँचे, महेश्वर शंकर के यहाँ भी उन्होंने प्रार्थनाएँ कीं। अधिकांश देवगण उसी निचले जंगल में खेती का आविष्कार कर जीवन की व्यवस्था चलाते रहे। दानवों का वैभव नर्मदा, शोण, शिप्रा, तमसा आदि नदियों के तट पर अपनी गौ-सम्पत्ति के साथ आमोद-प्रमोद का उत्सव मनाता रहा। वर्षा काल में पहाड़ के शिखरों पर, शरद् में मैदानों में, हेमन्त-शिशिर में नगरों में और वसन्त में शस्यपूर्ण धरती में दानव-समाज का आनन्द-कौतुक हुआ करता था। दानव-सम्राट् हिरण्याक्ष ग्रीष्म का समय शोण और नर्मदा के उद्गम अमरकंटक पर बिताता था।

वस्तुतः समस्या थी भूमिक्षेत्र की। देवों ने जिस भूमि को उपजाऊ बनाकर कृषि-सम्पन्न किया था, दानवों ने उसे हस्तगत कर लिया। वे दानव नया निर्माण नहीं जनते थे, निर्माण की हुई सम्पति पर अधिकार करना जानते थे, देव करते क्या? विन्ध्य की वह वसुधा ही सबसे अधिक कृषि-योग्य थी। परन्तु लाचार होकर इस समय वे उत्तर में जंगल काट कर कृषि की नयी व्यवस्था कर रहे थे।

देवों की इस पराजय के बाद दूसरी घटना भी घटी। सहसा वज्रपात हुआ। उस भूमि में समुद्र का प्रवाह आ गया, साथ ही विन्ध्याचल में ज्वालामुखी फूट पड़ा, देवगण कैलाश की ओर भाग गये। बुद्धिबल से शून्य बेचारे दानव किधर जाते? ज्वालामुखी से भस्म होकर धीरे-धीरे बढ़ते हुए समुद्र के प्रवाह में विलीन होने लगे। हिरण्याक्ष दक्षिण भागा, किन्तु दक्षिण से भी समुद्र उमड़ रहा था और उस महादानव ने वहीं जलराशि में समाधि ले ली।

देवों ने कहा—'यह दानव हिरण्याक्ष हमारी पृथ्वी को समुद्र में ले भागा। हाय! हम धरती से, कृषि से, गायों से, सभी से हीन हो गए।'

उन्होंने प्रजापति और शंकर की प्रार्थनाएँ कर-कर के कैलाश पर अपने दिन बिताने प्रारम्भ किए।

वर्षों के बाद कैलाश के पूरब में हिम का धवल पहाड़ उठने लगा और उसकी तलहटी में समुद्र के स्थान पर मैदान दिखायी पड़ने लगे।

युग बीते, कैलाश के पूरब में जगत् का सबसे ऊँचा पहाड़ हिमालय खड़ा हो गया और उसकी तिरछी तथा नुकीली दो चोटियों ने देवों के हृदय में उसके प्रति वाराह रूप किसी मूर्तशक्ति की कल्पना भर दी। फिर तो देवों ने वाराह के रूप में भगवान् की स्तुति किया, जिन्होंने हिरण्याक्ष के द्वारा समुद्र में ले जायी गयी पृथ्वी को पाताल से निकाला है और देव-द्रोही दैत्यों का समूल विनाश कर दिया है।

बीच का समुद्र लुप्त हो गया। पश्चिम में सरस्वती और पूर्व में गंगा-यमुना एक बड़े भू-भाग को सींचने लगीं। देवों ने सरस्वती से लेकर ब्रह्मावर्त तक अपनी कला और संस्कृति का विस्तार कर दिया। विन्ध्य-वसुधा की पहले की प्रकृति-प्राप्त नदियाँ और ह्रद उसको अपनी सौन्दर्य-सम्पत्ति से परिपूर्ण बनाये थे।

किन्तु अब भी शासन दानवों का था, देवगण उनकी प्रजा बने थे। उन्हें विचरने का क्षेत्र मिल जाता था, वही बहुत था। हेमन्त ऋतु में जब हिमालय और कैलाश बर्फ से ढक जाते थे और विन्ध्य का भूमि-प्रकोष्ठ रंग-बिरंगे वसन्ती फूलों से भर जाता था तब बेचारे देवगण जी-ललचा कर रह जाते थे। दानवों की अमरावती का राज्य अब के प्रयाग तक फैला था। आगे की जंगली भूमि की परवाह उन दानवों को नहीं थी, किन्तु अपनी विन्ध्य-वसुधा के लिए उसकी सीमा पर दानवों के पहरे बैठे थे। क्या मजाल, बिना आज्ञा के कोई प्रवेश कर जाये ?

एक दिन फाल्गुन के प्रभात काल में दशार्ण प्रदेश की शीतल और सुगन्धित वायु सेवन करते हुए दो अश्व-सवार लुकते-छिपते वेत्रवती के तट पर जा रहे थे। चट्टानों पर चटक-मटक कर, कुण्डों में गिरिराज का आलिंगन करती हुई

वेत्रवती उन दोनों का मन विह्वल कर रही थी। अश्व-सवारों में पुरुष-वेष में एक स्त्री था, वे गिरि-शिखर की ओर बढ़ते जा रहे थे। स्थान को निस्तब्ध और निरापद देखकर एक ने कहा—'यह सुन्दर पवन, झूमती हुई लताएँ, डोलती हुई शाखाएँ, सरिता का यह निर्मल जल, फूलों से भरे हुए कृषि-क्षेत्र और विश्राम-योग्य शिलायें शंकर की उस कैलाशपुरी में भी कहाँ ?'

'प्रिये ! कैलाशपुरी में नटराज शंकर ही रह सकते हैं, हिम के भवन उस स्थान की आकांक्षा दानव क्यों करेंगे ? यहाँ केवल विश्राम योग्य ये शिलायें ही न देखो, आगे गिरि की गोदी में विहारयोग्य वे गुफाएँ भी देखो, जिनके लालच में मैं यहाँ छिपकर आया करता हूँ।'

दोनों ये बातें कर ही रहे थे कि सहसा आयुध लिए घोड़ों पर सवार एक दूसरे दल ने उन्हें घेर लिया—'रुको, रुको अश्ववारो ! देवभूमि से आ रहे हो ?'

'नहीं, हम तो इसी अमरावती के निवासी हैं', कहते हुए देव-दम्पति घवड़ा उठे।

'हम तुम्हारी परीक्षा करेंगे। तुम्हारे चेहरे तुम्हें चोर बता रहे हैं।'

दानवों के दल ने देव-दम्पत्ति को वन्दी बना लिया। देव अपने समूह का मुखिया था।

दूसरे दिन विन्ध्याचल के महा सरस्वती-पीठ में जहाँ दानवों के कुमार वेद और शास्त्रों की शिक्षा पाते थे, दानवों के आचार्य उशना ने उस देव-प्रमुख का अभियोग सुनने का उपक्रम किया। दानवों के वटु वृक्षों की छाया में शिलाओं पर बड़ी सावधानी से बैठे थे, उन्हीं में एक देव कुल का ब्रह्मचारी था, जिसका आकार तो वामन का था, परन्तु मुखमंडल भास्वान्-सा चमकदार। वह कमर में कृष्ण मृग का चर्म और स्कन्ध में यज्ञोपवीत पहने था तथा हाथ में कमंडल और दंड लिये था। यद्यपि वह यहाँ का अध्येता नहीं है तथापि उसे भी इस घटना के कौतूहल ने आकृष्ट किया था। विद्यापीठ में इस प्रदेश के शासी राजकुमार बाण भी बैठे थे।

आचार्य उशना देव-प्रमुख का अभियोग सुन चुके थे। उनकी अपनी नीति-कुशलता और दानवों की विजय ने उनके आत्माभिमान को मुखर बना दिया और उन्होंने कोई निर्णय देने के स्थान पर देवप्रमुख को भर्त्सनापूर्ण शिक्षा देनी आरम्भ की—'देव, जानते हो, तुम्हारी इसी विहार-कामना ने तुम्हारे गले से विजयश्री का हार निकाल कर फेंकवा दिया है। बुद्धिशील देवों के मानस में विलास और वासना का नग्न-नृत्य हो रहा है जो उन्हें इस योग्य बना देगा कि एक दिन वे अपनी बाहुओं के पाश में प्रिया को बाँधने के अतिरिक्त उससे धनुष-बाण भी न उठा सकेंगे।'

'नहीं आचार्य! ऐसी बात नहीं है। देवों ने अपने बुद्धिबल से संग्राम विजय किये हैं और आरामों में प्रिया के आलिंगन से क्लान्ति भी मिटाई है। हमारे ही बुद्धिबल का उपयोग दानवराज भी कर रहे हैं किन्तु आज हम पराजित हैं और पराजित को सब सुनना पड़ता है। आप कहते चलें।'

'नहीं सौम्य! क्या आज का ही इतिहास है? देखो तो पहले-पहल दानवराज हिरण्याक्ष ने देवों को अमरावती से निकाल कर बाहर किया था। उसके बाद यह परम्परा हिरण्यकशिपु से लेकर विरोचन और बलि तक सुरक्षित चली आ रही है। केवल बीच में सम्राट् के पितामह प्रह्लाद देवों के मित्र हो गये थे। भला कभी देवों ने दानवों को परास्त किया है। तुम्हें न ज्ञात होगा सिन्धु-मन्थन का इतिहास। दानवों के बल पर ही वह सफल हुआ। उसी में होनेवाली विष्णु की अन्याय-प्रियता ने दानवों की दृष्टि में देवों को बहुत नीचे गिरा दिया।'

'अच्छा आचार्य!' देव यह नहीं सुनना चाहता। उसमें भी आत्माभिमान है, देव पुनः दानवों को विजय करेगा। सम्प्रति उसके लिए कौन-सा दंड हो रहा है?' एक वामन ब्रह्मचारी ने बढ़ कर कहा।

'दंड कौन-सा? इधर तो इस विद्यापीठ से गंगा तक पड़ी हुई विशाल स्थली हमारे सम्राट् की यज्ञ-वेदिका बन रही है। सभी अद्रि, वन, आश्रम और सरिता आदि के निवासी उन्मुक्त होकर उनकी यज्ञ-भूमि में पधार रहे हैं।

फिर कौन बंदी बनाया जायगा, आज मुक्ति के दिन हैं ?' कहते हुए आचाय ब्रह्मचारी के तेज में छिपने-से लगे। देव मुक्त हो गया।

सम्राट् बलि का यज्ञ चल रहा था। गंगा के तट पर दो कोश में यज्ञ-वेदिका प्रकाल्पत की गई थी। एक मास के लिए दानवों की अमरावती तमसा और विन्ध्यपीठ के बीच गंगा की गोद में जैसे बस गयी थी। पश्चिमोत्तर में सरस्वती तट से लेकर दक्षिण-पूर्व में नर्मदा के तीर तक के दानार्थी गंगा के तट पर बलि के यज्ञ में पधार रहे थे। यज्ञ की समाप्ति सन्निकट थी। अभी तक कोई भी याचक दानवराज से विमुख होकर नहीं लौटा, सभी का अभीप्सित पूर्ण करने की सम्राट् की प्रतिज्ञा थी। सकुशल यज्ञ की समाप्ति-वेला आसन्न देखकर राज-कुल और आचार्य-कुल दोनों मनोमुग्ध थे।

आज यज्ञ का अन्तिम दिन था। सूर्य के निकलने के पहले वेदगान और होम प्रारम्भ था। सम्राट् बलि आचार्य उशना के साथ बैठे विधिवत् क्रियाएँ सम्पन्न कर रहे थे। सहसा द्वारपाल ने आकर कहा—'एक वामन ब्रह्मचारी याचना की कामना से यज्ञद्वार पर खड़ा है।'

'प्रवेश कराओ।' सम्राट् ने कहा और उनके कथन के साथ ही आचार्य के हृदय में महासरस्वती-पीठ के वामन वटु का भास्वान् रूप समा गया।

कृष्णाजिन पहने, यज्ञोपवीत धारण किये, दंड और कमंडलु लिये, कुंचित केश, वामन ब्रह्मचारी ने मुखमंडल से प्रकाश छिटकाते हुए यज्ञ-भूमि में प्रवेश किया। उसके तेज से न केवल आचार्य और सम्राट् अवसन्न हो गये, प्रत्युत यज्ञ के दीप भी हतप्रभ हो गये। सम्राट् उसके परवश हो गया। उसने उसके पैर धोये और गले में पुष्पमाला पहनायी। फिर कहा—'ब्रह्मचारिन्! क्या आज्ञा है ?"

'क्या मेरा समीहित पूरा करोगे ?'

'अवश्य, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है।'

'तो वचन दो!'

'वचन देता हूँ।'

'मुझे साढ़े तीन डग पृथ्वी चाहिए।'

'अध्येतः ! बस यही और कुछ माँगिए—भोजन, वस्त्र, व्यवस्था।'

'नहीं ! और कुछ नहीं !'

'आचार्य ! संकल्प पढ़ें ·······'

'नहीं सम्राट् ! रुक जाओ, मुझे इसमें कुछ रहस्य मालूम पड़ता है, इस दान के साथ तुम्हारा सिंहासन उलट जायगा। यह दान न दो, नहीं तो दानवों की भाग्य-लक्ष्मी रुष्ट हो जायगी।' आचार्य उशना ने कहा।

'भगवन् ! आप कुछ अन्य याचना कीजिए ?'

'नहीं, सम्राट् बस यही इतना चाहता हूँ।'

'आचार्य ! प्रतिज्ञा-बद्ध हूँ।'

'मेरी सम्मति नहीं है।'

'तो अब क्या करूँ ? हाँ, लीजिए ब्रह्मचारिन् ! साढ़े तीन डग पृथ्वी।'

'कुश लेकर संकल्प करो सम्राट्।'

'ठीक है, संकल्प करता हूँ।'

सम्राट् ने कुश लेकर वामन के लिए साढ़े तीन डग पृथ्वी का सङ्कल्प कर दिया। सङ्कल्प के साथ ही सहसा यज्ञ-भूमि में कोलाहल मचा, सभी ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि अश्वमेध यज्ञ के बीच इस नये यज्ञ को देखने के लिए जुट गये।

वामन ने कहा—'सम्राट् ने सङ्कल्प कर दिया, यह उनके हृदय का सत्य है और मेरी अभीष्ट पृथिवी तो पहले से नापी हुई है। मैं ब्रह्मचारी हूँ, गायत्री और सूर्य का उपासक हूँ। गायत्री का उपासक ब्रह्मचारी सूर्य का प्रतिनिधि है। सूर्य के डग में ही हमारे डग समाये हुए हैं। इस समय मैं सूर्य से भिन्न नहीं हूँ। सूर्य जहाँ उदय होता है वह पृथ्वी, अस्त होकर जहाँ जाता है वह पाताल, जहाँ मध्याह्न में चमकता है वह आकाश—उस सूर्य के तीन डगों में

ही समा जाते हैं, सम्राट् वलि का सारा साम्राज्य इसके अन्तर्भूत है। मैंने यह तीन डग पृथ्वी नाप ली। आधा डग और चाहिए।'

'वह सम्राट् का यह शरीर है ब्रह्मचारिन्! नाप लो, मैं इस आत्मज्ञान से आपका शिष्य हो गया। सारा साम्राज्य अब ब्रह्मचारी के शासन में है।'

ब्रह्मचारी ने तेज स्वर में कहा—'सम्राट् का शरीर नहीं, मन, वह आधा डग है, जो सूर्य की प्रभुता को जानता है, जो इस माप को प्रमाण मानता है। तुम्हारा मन ही इस संकल्प को पूरा कर रहा है।'

यह कहने के साथ ही ब्रह्मचारी ने प्रसन्नता और विराग की मुसकान बिखेर दी। वलि ने संकेत किया, परिचारकों ने छत्र और चँवर वामन के सिर पर तान दिया। वलि धर्म-पालन से आत्म-विभोर थे। सारा यज्ञ समाज स्तब्ध था, केवल आचार्य उशना वलि की इस धर्मभीरुता पर क्रोध से अंगारा हो रहे थे।

७. कुमार इल की दिग्विजय

अभूतपूर्व तपस्या की थी मनु ने और तपस्या से क्षीण उनका शरीर जैसे हड्डियों का वज्र बन गया था। पृथ्वी और आकाश की दिव्यतम विभूतियों से वह एक पंच तत्त्व समृद्ध हो रहा था, तपस्या की प्रतिमूर्ति धरती और त्याग का साधु-पथ आकाश दोनों उनके सामने झुक गए, दोनों का नियन्ता ब्रह्मा उस मनु के सामने प्रत्यक्ष हुआ। मनु ने आँख मूँद ली और फिर जैसे उनको आभास हुआ—'गगन-चुम्बी राज-सौध मेरे चरणों पर झुक रहा है, पृथिवी के अन्तराल से मणियों और रत्नों का पहाड़ ऊपर उठता हुआ मुझे आवृत करता जा रहा है। शक्ति के बल पर गर्व में चूर राजा मेरी स्तुति कर रहे हैं और प्रजाओं का समूह मेरी जय-जयकार मना रहा है।' उनकी आँखें खुलीं जो ऐश्वर्य की चमक से बोझिल हो रही थीं। उन्होंने अपनी तपस्या को सफल समझा और अब राजधानी को लौट पड़े।

मनु की तपस्या की बड़ी ख्याति हुई। उनके जन-नायक होने का सन्देश लेकर समाज के कर्णधारों ने दिग्भ्रमण किया, पर कहीं किसी राजा ने या किसी योद्धा ने मनु का प्रतिवाद नहीं किया। वर्ष के अन्त में राजधानी में उत्सव मनाया गया, देश-देश के जन-प्रतिनिधियों ने मनु के सम्राट् होने की घोषणा की और यह पावन आख्यान जगती के इतिहास-पट पर अंकित हो गया। चारों ओर शांति, समृद्धि और वैभव की बाढ़ आ गयी, पर बाढ़ में भी डूब कर वे जनपद हिले-डुले नहीं, क्योंकि त्यागी मनु ने उनके चरित्र की नींव ही ऐसी दृढ़ डाली थी।

किंतु समय बीता और आश्चर्य सामने आया, पिता की महती विजय ने पुत्र में उन्माद का अंकुर पैदा किया। राजकुमार इल ने कंधे पर धनुष उठाया और पीठ पर तूणीर कसा, साथ में अच्छा-सा सैन्य-दल लिया और फिर वह

दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। उसने कहा—'मुझे पिताजी की तरह पृथ्वी का सम्राट् नहीं बनना है। मुझे तो जगत् के कोने-कोने में रणयात्रा करके मणियाँ, रत्न, जवाहर आदि ऐश्वर्यों का कोश अपने अधीन करना है और उसके बाद पृथिवी तथा आकाश जहाँ मिलते हैं वहाँ अपनी विजय का ध्वज गाड़ना है, जब मेरे विजय-ध्वज की छाया में ही सूर्य का उदय होगा तब मैं सन्तोष की साँस लूँगा।"

पहले वह पूरब की ओर गया, समुद्र के छोर तक पृथिवी के राजाओं ने उसे मस्तक झुकाया। फिर वह दक्षिण की ओर चला। वहाँ भी समुद्र ने उसके पैर पखारे। अब वह पश्चिम की ओर उन्मुख हुआ, जहाँ वरुण के सहचरों ने बहुमूल्य रत्नों के ढेर, गन्धर्वों की सेवक-मंडली और अनेक सुन्दरी अप्सराएँ उपहार में देकर मनु-पुत्र का स्वागत किया। पश्चिम को विजय करने के बाद उसने उत्तर की ओर प्रस्थान किया।

अब तक पूरब, दक्षिण और पश्चिम तीनों ओर समुद्र ने उसके चरण धोए थे, लेकिन उत्तर की ओर बर्फीले पहाड़ों के शिखर ऐसे खड़े थे मानो विजयी कुमार की प्रतिस्पर्द्धा कर रहे हों। मनु-पुत्र अपनी सेना के साथ शिखर पर चढ़ गया और तब उसने देखा—आगे एक अद्भुत वन-प्रदेश है, जिसमें से एक विचित्र झनकार और नाद आकाश की ओर गतिमान हो रहे हैं। उसने सोचा—बर्फ के शिखरों के बीच यह वन-प्रदेश और उसमें यह नाद तथा झनकार! विचित्र बात है? फिर उसने कहा—"अच्छा तो सेना-नायको! इस विचित्र वन को लाँघ चलो।"

पर सेना-नायकों ने मस्तक झुकाया—"देव! यह विजय की भूमि नहीं है। यहाँ पृथ्वी की सीमा समाप्त हो रही है। आपने जो दिग्विजय किया है, उसी के पुण्यस्वरूप इस भूमि के दर्शन हुए हैं। पृथ्वी पर शासन करनेवाले महाकाल की क्रीड़ा-भूमि है यह वन-प्रदेश। क्या आप सुन नहीं रहे हैं—प्रकृति के पायल की झनकार और उनके डमरू का नाद?"

मनु-कुमार ठठा कर हँस पड़ा—'वाह रे लड़नेवाले योद्धाओ ! मनु-कुल के कलंक का टीका क्या तुम्हारे भाल पर ही होगा ? मैंने तुम्हारे बल की तौल नहीं की थी, पर यह क्या कह रहे हो ? भला जिसकी मुट्ठी में समुद्र बँधा है, जिसके पैरों से धरती दबी हुई है और जिसकी आँखों से आसमान नाचता है, उस मनु-कुमार का पौरुष महाकाल के सामने झुकेगा ?"

"कुमार ! हम सबके ऐसे अगणित पौरुष ही धरती की जवानी बन कर आते हैं और महाकाल इस पृथ्वी के दरवाजे पर अपना रथ खड़ा करके उनका उपभोग करता है। उसके पास पहुँच कर क्या हमारी जीत है, क्या हमारी हार ! हम तो उसी में विलीन हो जाते हैं !"

"मालूम हो गया मानव-योद्धा ! सम्राट् की तपस्या और अपनी बाहुओं में तुम्हें विश्वास नहीं है, पर मेरी बलवती भुजाएँ तो विश्राम नहीं करेंगी।"

'विश्वास क्यों नहीं है कुमार ! किन्तु धरती और धरती की सीमा के लिए ? हमने सुना है—समुद्र की अगाध सीमा को लाँघनेवाले, वायु की गति को बाँध लेनेवाले और आकाश की छाती पर अपने विजयी पैर रखने वाले अप्रतिम योद्धाओं ने भी महाकाल की धरती का अतिक्रमण नहीं किया है। आप विजय के पुण्यस्वरूप इस धरती को नमस्कार कीजिए। इस देह से इस धरती के उस पार जाना असंभव है। यहीं अपना विजय-ध्वज गाड़िए, सृष्टि की सारी शक्ति को समेट कर क्रीड़ा करनेवाले महाकाल का डमरू नाद सुन लीजिए और अब राजधानी को लौटिए।"

सैनिक आगे बढ़ने में असमर्थ थे, किन्तु मनु-कुमार इल को यह स्वीकार न हुआ। उसने धनुष सँभाला और तरकस से बाँण खींचा, फिर अकेले ही शरवण के उस वन में घुस गया। प्रवेश करते ही उसके विजयी चरणों ने पौरुष की पग-ध्वनि से उस वन को प्रतिध्वनित कर दिया। प्रतिध्वनि महाकाल के हृदय से टकराई और कुमार इल का पौरुष महाकाल में आत्मसात् हो गया। पलक माँजते ही इल किसी दूसरे पौरुष के अधीन हो गया। अब वह इल से

इला के रूप में था और उसे अपनी दिग्विजय का सारा इतिहास भूल गया था।

उस वन-भूमि के किनारे बुध निवास करता था और युगों से महाकाल की क्रीड़ा के अनुशीलन में उसने अपने दिन काटे थे। आचार्य बृहस्पति की विद्या के प्रति चन्द्रमा के अमृताभिमान ने जो अवहेलना और आसक्ति प्रकट की थी, उसके फलस्वरूप बुध की उत्पत्ति हुई थी, आचार्य और शिष्य के बीच विरोध की खाई खुदी हुई थी। उस बुध की दृष्टि इला पर पड़ गयी।

इला ने भी बुध को देखा, दोनों की प्रकृति एकाकार हुई और दोनों एक दूसरे पर मोहित हुए। बुध अधीर हो उठा, मानो अनुशीलन में वह रमणी ही उसे दिखायी पड़ी, उसने महाकाल को दण्डवत् प्रणाम किया और अपने को अन्तेवासी कह कर वन में प्रविष्ट हुआ।

दिग्विजय का पथिक इल अब इला बन कर क्रीड़ा के कमनीय कानन में भूल गया। सेना के समूह निराश हो कर लौट चुके थे। कुमार की इठलाती विजय-घोषणा को वायु अपने रथ पर अपहरण करके बहुत दूर पहुँच चुका था और इधर महाकाल की क्रीड़ा-भूमि में डमरू के नाद और लय पर अपनी अतृप्ति को प्रलय करते हुए बुध और इला जीवन की सिद्धि लूट रहे थे।

८. लक्ष्मी और शक्ति के असमर्थ होने पर

विवेक का विचित्र-रथ चलता रहे तो सारथी उसे परब्रह्म के आसन तक हाँक सकता है, नहीं तो वह मिट्टी के खँडहर में अपने सारथी के साथ लोभ, मोह, ईर्ष्या, अभिमान के दीमकों का शिकार हो जाता है। बात यहाँ मिट्टी की दीवारों की नहीं, देवों के दिव्य-भवनों की नगरी अमरावती की है।

अमरावती का वैभव पाकर इन्द्र में दिन प्रतिदिन अभिमान का भाव बढ़ता गया और उसी अभिमान में आकर, उसने देवगुरु को अपमानित कर दिया। देवगुरु ने अमरावती छोड़ दी और इन्द्र ने देवगुरु के प्रति अपनी सारी श्रद्धा समाप्त कर दी, फिर ब्रह्मा से आज्ञा लेकर इन्द्र ने दैत्यराज के दौहित्र विश्वरूप को अपना पुरोहित बनाया।

किन्तु देवराज इतना न सोच सका कि क्या दैत्य-कुल में देवों के आश्रित रहने की कभी कामना हो सकती है? गुरु के अपमान का अभिमान था, कि वह अपने शत्रुकुल में समस्त विश्वास के साथ आश्वस्त होकर बैठा रहा। सहसा एक दिन उसे षड्यन्त्र का पता चला और तब उसने तेज तलवार से विश्वरूप का शिर काट डाला।

उसका शिर काट कर इन्द्र भविष्य की चिन्ता से निश्चिन्त रहा और इधर क्रोध में आकर विश्वरूप के पिता त्वष्टा ने एक पुत्रेष्टि यज्ञ कराया, जिससे इन्द्र को पराजित करनेवाला ब्रह्मण्य और महावीर वृत्र नाम का दानव यज्ञ-भूमि से आविर्भूत हुआ। वह दानवों का प्रतिनिधि बना। दानवों के अपार दल ने गर्जना की। उन्होंने देवों को पराजित किया और अमरावती में उनकी पानगोष्ठी शुरू हुई। इन्द्र मारा-मारा फिरता रहा। फिर विचार-विमर्श के बाद, उद्योग-प्रयोग के अनन्तर दधीचि की हड्डी का वज्र बना। वज्र के निर्माण के

बाद इन्द्र में फिर नया बल और नया ओज आया। उसने वृत्र की ब्रह्मण्यता का विचार न किया और उस वज्र से दानव वृत्र का वध कर दिया।

वृत्र को मार कर इन्द्र ने अमरावती पर अधिकार तो कर लिया, पर उस ब्रह्मण्य दानव के वध से पैदा हुई ब्रह्महत्या ने इन्द्र की आत्मा को आक्रान्त कर लिया, सात ताल की ऊँचाई के बराबर लम्बा शरीर, प्रेत-के-से अंग-प्रत्यंग, हरिस के समान लम्बे दाँत, लाल वस्त्रों का परिधान और इनके बीच प्रतिष्ठित ब्रह्म-हत्या की साकार चेतना विकराल रूप पकड़ कर अमरावती के ऊपर अट्टहास करने लगी। इस अट्टहास की ध्वनि-प्रतिध्वनि से इन्द्र के अङ्गों के जोड़ ढीले पड़ गए। उसकी आत्मा भय से चिल्ला उठी। इसके पूर्व, कि वह ब्रह्महत्या इन्द्र को अपने दाँतों से पकड़ कर चबा डाले, इन्द्र के काँपते हाथों ने साहस किया। उसने अपने अमोघ वज्र से ब्रह्महत्या पर अचूक प्रहार किया, पर यह क्या? वह तो और जोरों से अट्टहास कर उठी। शक्ति इन्द्र के पास असफल लौट आयी। भय के तूफान से इन्द्र के रोम-रोम खड़े हो गए! आँखें झप गयीं। उसकी वह शक्ति उसी राज-भवन में पड़ी रह गयी और वह वहाँ से बड़ी तेजी से भागा।

इधर ब्रह्महत्या भी उसके पीछे-पीछे अट्टहास करती हुई दौड़ी। अपने अट्टहास में जैसे वह विज्ञप्ति कर रही थी—"इन्द्र! मैं तुम्हारे कर्त्तव्य से पैदा हुई, तेरी कुल-कन्या हूँ। क्या अपनी कुल-कन्या पर अपने हाथों से शक्ति का प्रहार किया जाता है, और किया जाय तो क्या कभी सफल हो सकता है? सुन, तेरे कर्मों ने मुझ-सी कराल कन्या पैदा की है, तो इसमें मेरा क्या दोष? मुझे निर्दोष समझ कर, मुझ पर ख्याल कर। मैं बहुत भूखी हूँ, भूख की ज्वाला से मेरा शरीर जल रहा है। वैसे तो मुझे दुनियाँ में बहुत कुछ खाने को मिल सकता है, किन्तु मेरे उदर की अग्नि तेरी आत्मा को भस्मसात् करके ही पूर्ण शान्त हो सकती है।"

ब्रह्महत्या ने फिर बड़ी तेजी से अट्टहास किया। इन्द्र के कानों के परदे फटने लगे, वह हतचेत ब्रह्मा के कमलासन की ओर भागता जा रहा था। ब्रह्मा

ने दूर से भाग कर आते हुए इन्द्र को देखा और उसके पीछे से दौड़ी आती विकराल ब्रह्महत्या को भी! पितामह ने दूर से ही कहा 'देवेन्द्र! तुम देवगुरु के पास चले जाओ, वे ही तुमको कुछ प्रायश्चित्त बता सकते हैं इस पाप से मुक्त होने का! बस चले जाओ!'

इन्द्र निराश होकर लौटा पर वह देवगुरु की ओर न जाकर शंकर की ओर चला गया। शंकर उसे इस रूप में देखकर करुणार्द्र हो उठे, पर क्या करते? उन्होंने कहा—'देवराज! तुम तपस्या करके शक्त बनो, तब तुम्हारी शक्ति से ही इस ब्रह्महत्या का नाश होगा। मैं ब्रह्महत्या को नष्ट कर दूँ, लेकिन तुम्हारी आत्मा की रक्षा न हो सकेगी।'

इन्द्र घबड़ाया और वह उपेन्द्र विष्णु के पास भागा, पर विष्णु शयन कर रहे थे, वे जब तक अपनी पलकें उघारें, कि लक्ष्मी ने इन्द्र को डाँट कर बाहर कर दिया। अब इन्द्र सब प्रकार से निराश हो गया उसके पाप में किसी ने हिस्सा न लिया। अन्त में करुणा के आँसू बहाता हुआ देवगुरु बृहस्पति के पास पहुँचा और दूर से ही रो-रो कर प्रार्थना करने लगा—'आचार्य! मैं बालक हूँ, मेरे अपराधों को क्षमा करें। मैं बाल-बुद्धि और मूर्ख हूँ, गुरु-जन बालकों की बातों पर ध्यान नहीं देते और सदा उनपर दया ही करते हैं। गुरु! दया करके इस महापिशाची से मेरी रक्षा करें।"

देवगुरु की आँखें डब-डबा आयीं। उनमें पुत्र का स्नेह था, उन्होंने गीले स्वर में कहा—"स्वस्ति देवेन्द्र! स्वस्ति। धैर्य रखो। इस विपत्ति से भी तुम्हारी रक्षा हो सकेगी। अमरावती के विभव से सम्पन्न होनेवाला कोई अनुष्ठान तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता और न कोई शूल, त्रिशूल, शक्ति और परशु इस पिशाचिनी को मार सकता है। केवल वाणी की पवित्र यज्ञ-भूमि में ही पहुँच कर तुम इस से छुटकारा पा सकते हो।"

"तब गुरु! मैं कहाँ जाऊँ?"

'देवेन्द्र! तुम मानसर जाओ और वहाँ कमल वन में मृणाल-दंडों के बीच निवास करो। तुम न जानते होगे, जब तब सरस्वती वहाँ स्वयं विश्राम लेती

हैं और वीणा की ध्वनि में ऐसा अमृत गान करती हैं कि काल भी विराम लेकर कुछ क्षण उस गान को श्रवण करता है। ब्रह्मा ने उस कमल वन में बैठ कर सहस्त्रों वर्ष तक वेद-विज्ञान का अनुशीलन किया है। वीणा के महान् यज्ञ और तपोबल से मानसर की धरती, कमल-वन और ऊपर के आकाश का कोना-कोना, अणु और परिमाणु दिव्य तेज से व्याप्त हैं, वहाँ प्रतिक्षण पवित्र प्रकाश की किरणें फूट रही हैं। वहाँ पहुँचते ही तुम्हारे भय का नाश हो जायगा। और यदि इस पिशाची ने उस सीमा में प्रवेश किया तो जल कर राख हो जायेगी। तुम शीघ्र जाओ और वहाँ जाकर वाणी के तप में लीन हो जाओ।'

इन्द्र मानसर पहुँच कर कमल-वन में घुस गया, ब्रह्महत्या दूर सीमा पर ही उसे अशक्त होकर देखती रह गयी।

कई वर्ष वीते। अमरावती में इन्द्र के पद पर सम्राट् नहुष को रक्षा का भार सौंपा गया। पर अमरावती का विभव वर्षाकाल की नदी की धारा है। नहुष भी उसमें वह गया। उसने सती इन्द्राणी के ऊपर अपनी वासना व्यक्त की, इन्द्राणी ने देवगुरु से अपनी इस दुःख-दशा की कहानी सुनायी। देवगुरु ने विभव की महिमा को धिक्कारा, इन्द्राणी को आश्वस्त किया और फिर सोचा 'अब इन्द्र को बुला ले आना चाहिए, वह अपनी तपस्या से पाप-मुक्त हो गया होगा।'

वृहस्पति ने मानसर पहुँच कर इन्द्र को पुकारा। इन्द्र आकर गुरु के चरणों पर लोट गया। गुरु ने कहा—"देवराज ! चलो, तुम्हारे बिना अमरावती शून्य हो गयी है, नहुष का पतन हो गया है।"

"गुरु-जनों का जैसा आदेश", कह कर इन्द्र कृतज्ञता के आँसुओं से भींग उठा। गुरु ने उसे प्रबुद्ध किया और तब वह सरस्वती का मंत्र जपता हुआ मानसर की सीमा से बाहर निकला। वहाँ ब्रह्महत्या सीमा पर बैठी इन्द्र को प्रतीक्षा कर रही थी, वह उस इन्द्र की ओर दौड़ी, इन्द्र ने उसे आँखों से देखा, इन्द्र की आँखों के तीव्र प्रकाश में वह बड़ी तेजी से जलने और राख होने लगी। इन्द्र विनीत होकर गुरु के साथ पवित्र उत्कंठा से स्वर्ग की ओर बढ़ चला।

९. सागर और अवधूत

सागर की उन्मुक्त लहरों से गले मिल कर वायु के झोंके पहाड़ों की ओर जा रहे थे, किन्तु तीन ओर से वह समुद्र गरज रहा था, एक ओर थी धरती, जो शांत थी, सुस्थिर थी। ऊपर आकाश था, जिसमें चमकता हुआ सूर्य अपनी हजार किरणों से समुद्र के भीतर प्रवेश कर उसके अथाह और असीम रूप का पता लगाना चाहता था। इसी व्यापार के बीच वहाँ एक अवधूत टपक पड़ा। उसे अपनी आत्मा की खोज करनी थी। आज पहली वार उसने समुद्र को देखा है। ऐसा समुद्र जो अथाह है, असीम है और पूर्णतः उन्मुक्त है। पहाड़ों और नदियोंवाली यह धरती वर्ष में छह वार रंग-विरंगे फूलों का नया-नया परिधान पहन कर समुद्र के चरणों में लिपटती रहती है और वृक्षों के वातचक्र में अपने विरह के उच्छ्वास भरती है लेकिन समाधि-योग में तल्लीन इस समुद्र ने सृष्टि के आदि से आज तक पृथ्वी के इस अनुनय की ओर ध्यान न दिया।

अवधूत ने प्रसन्न मुद्रा में आश्चर्य की आँखों से समुद्र को देखा। वायु का विस्तृत और तीव्र वेग उससे टक्कर ले रहा था, लेकिन समुद्र केवल लहरों में हँस रहा था, हँस कर चुप हो जाता था। आत्मबोध का जिज्ञासु अवधूत अब समुद्र के तट पर मस्त होकर घूमने लगा, दिन और रात बीतते रहे। सूर्य, चन्द्रमा और तारों ने आकर अपना किरणें फैलायीं और चाहा कि समुद्र के भीतर प्रवेश कर उसकी अथाह सीमा को नाप लें, पर समुद्र की लहरें किरणों को पकड़ कर उनके नाक-कान चूम लेती थीं।

समय के साथ ग्रीष्म बीता, बरसात आयी, पर समुद्र में न उतार हुआ, न चढ़ाव। आसमान में बादल गरजते-तरजते रहे, लेकिन समुद्र में लहरों की उन्मुक्त हँसी थी। धीरे-धीरे जाड़ा आया, किन्तु समुद्र ने जल के रहते हुए भी ठंडक को अपने पास न फटकने दिया। वर्ष बीत चला, अवधूत वहीं डटा रहा।

यह अवधूत थे योगी दत्तात्रेय, कौपीन पहने और कमंडल तथा दण्ड लिये, जिनके शरीर से प्रसन्नता फूट रही थी और चमकते हुए चेहरे पर पिंगल जटाएँ निछावर हो रही थीं। ये संसार के बन्धन से आत्मा को स्वतंत्र करने के लिए गुरुओं की खोज कर रहे थे।

आत्मा की पाठशाला में जब सब से पहले इन्होंने पैर रखा तो पृथ्वी को अपना प्रथम गुरु बनाया था और उससे धैर्य तथा क्षमा की शिक्षा ली थी। तब से आज तक पृथ्वी के अतिरिक्त वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर और अजगर दत्तात्रेय के गुरु बन चुके थे, जिनसे आत्मा के लिए कोई न कोई शिक्षा इस अवधूत ने ग्रहण की थी।

गुरु के आश्रम में जो अह्लाद मिलता है, जो वत्सलता मिलती है और जो आत्मानुशासन मिलता है, वह सब कुछ उस सागर के तट पर अवधूत दत्तात्रेय को मिलता रहा। ये लहरों के साथ उछलते रहे, समुद्र के गर्जन के साथ 'सोऽहं' की ध्वनि लगाते रहे। और उसके विस्तार को देख कर अपनी आत्मा के विस्तार का अनुमान करते रहे, पर अभी साधना का अन्तिम दीक्षान्त-सूत्र इन्हें नहीं मिला था।

आज ये वासन्ती बयार में सागर के चरणों के पास खड़े थे। गुरु-मूर्ति सागर का स्वरूप देखते हुए इनकी आँखें थकती न थीं, लेकिन इनके सामने गुरु का सम्यक् रूप-दर्शन नहीं था। इनकी आँखें केवल देख पाती थीं कि दूर, सृष्टि-जगत् के एकान्त कोने में गुरु सागर और गुरु आकाश मिल कर कुछ बातें कर रहे हैं। दत्तात्रेय के वे चर्म-चक्षु गुरु का पूर्ण दर्शन करने में असमर्थ हो गए, अब अवधूत ने अपने अन्तर्चक्षु के पलक उघारे और सागर से अपनी जिज्ञासा प्रकट किया—आचार्य सागर! मैंने जल को अपना गुरु बनाया है और उससे स्वाभाविक स्वच्छता की शिक्षा ली है। किन्तु आप तो जल की अपार राशि हैं, बताइए फिर यह अपार स्वच्छता क्या है? बोलिए, इस शिष्य के लिए आप कौन-सा अनुपम आत्मबोध दे रहे हैं?

इस अवधूत ने सदैव गुरुओं से मौन शिक्षा ली है और अभी तक मनुष्यों में किसी को गुरु नहीं बनाया है। समुद्र के सामने इतना कह कर वह खड़ा

रहा और बार-बार जिज्ञासा-भरी दृष्टि से अपार जलराशि को देखने लगा। समुद्र इनका दसवाँ गुरु है। ये एक वर्ष से प्रसन्न होकर मस्ती में समुद्र के तट पर घूम रहे हैं। यहाँ उन्होंने दिन-रात को उतरते देखा, मास-ऋतु को गुजरते देखा और अब देख लिया कि वर्ष भी बीत गया, पर अपने गुरु समुद्र की अचल प्रतिष्ठा में उन्होंने कोई अन्तर नहीं देखा।

हाँ देखा क्या ? समुद्र का केवल एक व्यापार और एक स्थिति। बारहों महीने प्रसन्नता में गरजता रहा है यह समुद्र, और हँसी की लहरों में वसुधा पर मोतियाँ बिखेरता रहा है, इसका यही एक व्यापार है, इसके ऊपर तूफान आए हैं, बादल गर्जन करते हुए गए हैं, पूर्ण चन्द्रमा उदय हुआ है, अँधेरी रात आयी है पर इसके व्यापार में कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। फिर अवधूत ने देखा—इस समुद्र की अचल प्रतिष्ठा, जल बादल बन कर उड़ता रहता है और नदियाँ जल लेकर आती रहती हैं। कभी इस पर बरसात हुई है और कभी सूर्य की प्रखर किरणों ने इसके शरीर को तपाया है। पर न बरसात में इसका जल बढ़ा है और न गरमी में घटा है, सदैव अचल स्थिति रही है इसकी ?

अवधूत की आत्मा उल्लास में समुद्र की ऊँची लहरों के साथ एक क्षण आकाश को चूमती हुई दीख पड़ी, जैसे उसका इष्ट मिल गया। अवधूत किनारे के स्थित पहाड़ की ऊँचाई पर चढ़ा और समुद्र को एकटक देखते हुए उसने कहा "आचार्य सागर ! तुम्हें प्रणाम है। संसार की अनेक विपत्तियों के सिर पर पैर रख कर विहँसनेवाली यह प्रसन्नता मुझे दीजिए और दीजिए यह गम्भीरता, जिसके कारण आपको बादलों के लिए अपना जल-रूपी धन लुटाने में संकोच नहीं हुआ तथा जिसके कारण ही पहाड़ों की सहस्रों कुमारी नदियाँ इठलाती हुई आप के गले में लिपट कर भी आपको समाधि-योग से न डिगा सकीं।'

समुद्र ने अपने गर्जन में ही जैसे 'एवमस्तु' कहा और अथाह, अपार तथा असीम समुद्र की वह गर्जन-ध्वनि, अवधूत की आत्मा में प्रतिध्वनित हो उठी मुनि की प्रसन्नता और गम्भीरता का विस्तार करती हुई, उसमें दीप्त, अजेय, और अथाह शक्ति का आविर्भाव करती हुई।

---

१०. पुण्य का प्रतिनिधित्व

मार्कण्डेय ने कहा—धर्मराज युधिष्ठिर ! देवलोक के अमर जीवन की चर्चा आपने खूब सुनी है। वहाँ के सदाबहार उपवन, रँगीले प्राणी, कभी न बीतनेवाली जवानी, अप्सराओं का अद्भुत नृत्य और विलास, एक ही वसन्त ऋतु, जिसमें धूप और शीत एक ही अनुपात से चलते हैं—सहस्र युगों तक दानवों और मनुष्यों के महिमाशालियों का मन लुभाते रहे हैं। उस लोभ में मनुष्यों ने देवों के लिए यज्ञ के क्या-क्या अनुष्ठान नहीं किए ? और दानवों ने अनेक संग्रामों में अनगिनत आहुतियाँ देने के लिए कितना जी नहीं तोड़ा ? पर देवों की राजनीति से दानव पराजित हो गए और इधर मनुष्य की भक्ति से उन देवों ने इतना लाभ उठाया कि उस भक्ति के आधार पर देवों ने देवलोक के राजतंत्र में एकबार समूचे विश्व को जकड़ दिया। कालान्तर में यदि देवलोक जलप्लावन में डूब न गया होता, वहाँ की वह वसन्त और विलास की श्री मिट्टी में न मिल गयी होती तो आज चन्द्रवंशी पौरव, कौरव और यादवों की विराट् महिमा से धरती-आकाश न आक्रान्त होते। कुरुभूमि के लिए कुरुक्षेत्र का धर्मयुद्ध न होता, अब भी देवलोक के इन्द्रपद के लिए बलि और यज्ञ के अनुष्ठानों में सभी राजर्षि होड़ लगाते रहते।

पाण्डुनन्दन ! तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। तुम समझ जाओगे, देवों ने अपने राजतन्त्र में इस भारत-भूमि को किस प्रकार बाँध रखा था।

राजन् ! तुम समझ ही रहे हो कि देवलोक में अमर जवानी भले हो पर मुझ जैसे चिरजीवी वहाँ नहीं हैं। वहाँ अद्भुत विलास की कोई सीमा नहीं है, किंतु हम जैसे ज्ञानसाधक वहाँ नहीं पैदा हो सकते। एक बार मैंने देखा कि इस भरतखंड में मुझ से भी अधिक समय के चिरजीवी मौजूद हैं, जो देवों के लिए भी आश्चर्य बन गए। भारतवर्ष के इन आश्चर्यों को ही देखकर देवों ने हमारी स्तुति की थी—"भारतभूमि में पैदा होनेवाले ये प्राणी धन्य हैं जो इच्छानुसार स्वर्ग का विलास और मोक्ष का आनन्द दोनों प्राप्त कर सकते हैं।

इसीलिए मोक्ष के लोभ में हम देवता भी यहाँ मनुष्य बन कर पैदा होना चाहते हैं।"

कौरव-सम्राट्! जब राजर्षियों की स्वर्ग-लालसा अत्यन्त बढ़ गयी तब स्वर्ग के लोभ में यज्ञों के अनुष्ठान से ऊब कर ऋषियों ने इस मोक्ष-तत्त्व की खोज की थी। मोक्ष के उस आनन्द ने देवों को भी आकर्षित कर लिया। फिर क्या था? जब भारत में राजा लोग स्वर्ग के लिए अनुष्ठान करते फिरते थे, उस स्वर्ग-लोक में देवगण इस भूमि की मोक्ष-साधना के लिए तरसते थे।

पर मेरी कहानी उस समय से पहले की है जब तक ज्ञानमय मोक्ष-साधना की खोज यहाँ न हो सकी थी।

एक बार मैं सरस्वती नदी के तट पर विचर रहा था, मुझे आकाश में शब्द सुनायी पड़े—"राजर्षि इन्द्रद्युम्न इस भूखंड में अब तुम्हारे पुण्यों के कोई अवशेष नहीं बच रहे हैं, हमने अपने देवदूतों से अच्छी तरह पता लगा लिया; इसलिए अब तुम स्वर्ग से निकाल कर बाहर किए जाते हो। देखो, स्वर्ग में तुम इसलिए नहीं निवास पा सकते हो कि तुमने भूलोक में देवों के उद्देश्य से जो बहुत से पुण्य किए थे, तुम्हारे उन पुण्यों के साक्षी कोई प्राणी अब यहाँ नहीं है? क्या तुम्हारे कार्यों से देवों की महिमा का गान अब भी यहाँ होता है? यदि नहीं, तो तुम देव-निर्मित-पुण्यों के प्रतिनिधि बन कर अब स्वर्ग में नहीं रह सकते।"

अन्तिम वाक्य के समाप्त होते ही विमान चल पड़ा और विमान से एक पुरुष नीचे गिरा दिया गया। मैंने कौतूहल-वश अपनी आँख उधर फेरी तो वह पुरुष मेरे सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया—"भगवन् ब्रह्मर्षि! क्या आप मुझे पहचानते हैं?"

वह कातर था, फिर भी दृढ़ था। मैंने उत्तर दिया—"हम जैसे लोग एक स्थान पर निवास नहीं करते, अनेक तीर्थों और ऋषि-कुलों में घूमते रहते हैं, अनेक लोगों से भेंट होती है। व्रत, उपवास के अनुष्ठानों की ऐसी व्यग्रता रहती है कि कभी आवश्यक कार्य भी भूल जाते हैं, ऐसी दशा में अपने मिलने-

जुलने वाले लोगों के नाम भी याद नहीं रहते। मैं प्रयत्न करने के बाद भी आप को पहचान नहीं पा रहा हूँ।"

"तो क्या आप से पहले का भी पैदा हुआ कोई पुरातन प्राणी अभी इस भारत-भूमि में है। मैं तो पुरातन चिरजीवी केवल ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय को ही समझता था।"

"नहीं, मुझ से भी पुरातन एक जीव है, हिमालय की खोह में रहनेवाला प्रावारकर्ण नाम का उल्लू। बहुत दूर की यात्रा करने पर वह मिलेगा।"

"तो यह इन्द्रद्युम्न, घोड़ा बन जाता है आप इस पर सवार हो जायँ, और मुझे वहाँ ले चलें जहाँ वह उलूक रहता है।"

मैं घोड़े पर सवार होकर प्रावारकर्ण के पास पहुँचा। इच्छा-सिद्धि हो कर भी वह इन्द्रद्युम्न स्वर्ग की लालसा में कातर था। अपने असली रूप में आकर वह उलूक के सामने खड़ा हुआ और पूछा—"क्या आप इस राजर्षि को पहचानते हैं ?"

प्रावारकर्ण ने दो दण्ड तक खूब विचार किया, फिर उत्तर दिया—"नहीं, मैं आपको नहीं पहचानता।"

"आप से भी पहले का पैदा हुआ कोई दूसरा प्राणी इस भूमि-खण्ड में है ?"

उलूक ने उत्तर दिया "है, कुछ दूर चलने पर इन्द्रद्युम्न नाम का एक सरोवर है। उस सरोवर पर नाडीजंघ नाम का बगुला निवास करता है। उसकी आयु मुझ से बहुत अधिक है।"

इन्द्रद्युम्न फिर घोड़ा बना। मुझे और उलूक को लेकर उस सरोवर पर पहुँचा, जहाँ वह बगुला निवास करता था।

कुरुकुल-सम्राट् ! इस मार्कण्डेय ने सृष्टि के प्रलय का कौतुक देखा था तो भी यह उस कौतूहल में विभोर हो रहा था। हम सभी ने उस बगुले से पूछा—"बकराज ! क्या आप राजर्षि इन्द्रद्युम्न को जानते हैं।" बगुले ने दो घड़ी तक सोचा-विचारा, पैर से शिर खुजलाया, किन्तु उत्तर दिया—"मेरी जानकारी में राजर्षि इन्द्रद्युम्न नहीं हुए हैं।"

"क्या कोई दूसरा ऐसा प्राणी है जो आप से पहले पैदा हुआ हो।"

"इसी सरोवर में अकूपार नाम का कछुआ रहता है जो आयु में मुझ से बहुत बड़ा है, शायद वह इन राजर्षि को जानता हो।"

कछुए को सूचना दी गयी कि आप से कुछ प्रश्न पूछने के लिए लोग आए हुए हैं कृपया बाहर आकर दर्शन दीजिए। कछुआ सरोवर के किनारे आया, हमने उससे पूछा—"क्या आप राजर्षि इन्द्रद्युम्न को जानते हैं।"

कछुए ने कुछ देर तक सोचा, फिर उसने इन्द्रद्युम्न को ओर देखा और उसकी आँखों में आँसू आ गए। वह प्रेम-विह्वल होकर बोला-"भला मैं राजा इन्द्रद्युम्न को न पहचानूँगा ? इन्होंने एक हजार बार अग्नि-स्थापन कर, यज्ञ-यूप गाड़ कर यज्ञ किये हैं और इन्होंने यज्ञ में इतनी गौओं का दान किया है कि उन गौओं के आने-जाने में खुर के प्रहार से यह सरोवर बन गया, जिसमें मैं तब से ही निवास कर रहा हूँ। धन्य हैं ये राजा इन्द्रद्युम्न !"

कछुआ के इतना कहने पर देवदूत एक रथ ले कर राजर्षि इन्द्रद्युम्न के सामने प्रकट हो गए—"राजन् ! आपके पुण्यकर्मों की चर्चाएँ अभी इस जगत् और उस देवलोक तक गूँज रही हैं, देवता आप से धन्य हो रहे हैं। आपका स्वर्गलोक में स्वागत है, चलने की कृपा करें।"

इन्द्रद्युम्न ने देवदूतों से कहा—"आप लोग तबतक मेरी इस सरोवर पर प्रतीक्षा करें जब तक मैं अपने इन दोनों मित्रों को इनके स्थान पर न पहुँचा दूँ।'

फिर उस राजर्षि ने प्रावारकर्ण को हिमालय पर और मुझे सरस्वती तट पर पहुँचा दिया। धर्म-युद्ध के विजेता युधिष्ठिर ! तब से मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि स्वर्ग-लोक पुण्य के प्रतिनिधियों के लिए है, ज्ञान के साधकों के लिए नहीं।

राजर्षि के माहात्म्य से गद्गद् पाण्डव युधिष्ठिर ने कहा—"ब्रह्मर्षिवर ! आपने बड़ा अच्छा किया, जो अपने से अधिक चिरजीवियों की खोज कर राजर्षि इन्द्रद्युम्न की सहायता की जिससे उन्हें पुनः स्वर्गलोक में स्थान मिल गया।"

११. व्याध की शिवपूजा

देवगण जिनका पैर छूने के लिए मरघट की पुरी में आते हैं, जिन्होंने देवों को अमृत दिया और स्वयं कालकूट पी लिया, जिनके शिर पर सुधाकर ने शरण ली, गंगा ने विश्रान्ति पायी और जिसने चन्दन को छोड़कर चिता की भस्म ही शरीर पर लपेटा, जिसने देवपुरी के भोगों की ओर न देखकर उल्लास के साथ भाँग और धतूर को ही घोंट-घोंट कर पिया, आभूषणों के स्थान पर साँपों के मुण्ड और वस्त्र की जगह बाघ की खाल जिससे कृतार्थ होते रहे, जिसने अन्तरिक्ष में उड़ने की कामना छोड़कर किसान के बैल को ही अपना सहचर बनाया, वे भगवान् शङ्कर जगती के विलक्षण और सहज आदर्श हैं, इस आदर्श में शान्ति है, आनन्द है और जगत् के साथ अपना कल्याण है।

शिव के किसी भक्त ने यही सोचकर नगर को छोड़ दिया था, जंगल की पावन धरती पर उसने बस्ती बसायी थी। सूनसान मैदान में जलस्रोत से अधिक दूर नहीं, काँटेधारी विल्ववृक्ष के मूल में शिव को ले जाकर बैठा दिया था। किन्तु अपने अनुरूप स्थान मिल जाने के कारण शिव वहीं साक्षात् निवास कर लेंगे, यह उस भक्त को नहीं मालूम था और न यही विश्वास था कि फिर यहाँ देवगण शिव के पैर की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के लिए प्रदोष और ब्रह्म-वेला में उतरा करेंगे।

एक दिन एक व्याध जिसे यह भी नहीं मालूम था कि यहाँ शिव की बस्ती बसा दी गयी है, जङ्गल में दिन-भर का मारा-मारा घूमता हुआ उधर आ टपका। वह उदास था क्योंकि दिन बीत गया कोई शिकार न मिला, अब तक पेट में कुछ गया न था, पानी पीने की इच्छा से स्रोत के पास आना चाहता था पर रात हो गयी थी और दिन में यद्यपि फागुन की वासन्तिक बहार जंगल में थी लेकिन अब रात में उसका नंगा शरीर शीत से आतंकित हो रहा

था। अतः पानी पीने की इच्छा छोड़ कर वह रात गुजारने के लिए ठाँव खोजने लगा। और सूने मैदान में अकेला विल्ववृक्ष जब उसकी आँखों के सामने पड़ा तब उसके काँटों की परवाह न करके उसने उसी पर आश्रय ले लिया। उसके लँगोटधारी शरीर पर केवल धनुष और बाण की विभूति थी और पेट में था निराशा का भाव; नींद आयी, नहीं समय कैसे कटे? उदासीनता की सहजात वृत्तिवश वह विल्व की पत्तियाँ तोड़ता रहा और शीत के कारण मुँह से सी-सी करता रहा। नीचे गोल-मटोल आकार में भगवान् शिव विराजमान थे, ठीक वैसे जैसे अन्तरिक्ष गोल है और जैसे उसमें सूर्य-चन्द्रमा आदि गोलाकार कितने ब्रह्माण्ड अपना गोल चक्कर लगाया करते हैं, वैसे ही बेल की पत्तियाँ टूट-टूट कर शिव की मूर्त्ति पर गिर रही थीं।

आधी रात, शान्त वातावरण जैसे आकाश से पृथ्वी तक शिव शिव की एक शान्त ध्वनि, मन्द समीरण में गूँज रही थी और चन्द्रमा शिव के न दिखायी पड़नेवाले मस्तक के ऊर्ध्व भाग में कहीं अपनी श्रान्ति मिटा रहा था। रात व्याकुल थी, अपने उस चन्द्रमा के लिए, जिसे शिव अपने मस्तक पर विश्राम दे रहे थे और इसीलिए रात के निःसीम वातावरण में शिव-शिव की ध्वनि उठ रही थी। ठीक उसी प्रकार कुछ निराशा रूपी रात की व्याकुलता थी व्याध के हृदय में, जो पेड़ पर पत्तों के झुरमुट में बैठा था। रात शिव के ऊपर असंख्य तारे निछावर कर रही थी और व्याध उसी तुलना में बेल की पत्तियाँ तोड़कर गिराता जा रहा था।

संसार के झूठे ऐश्वर्यों को छोड़कर आगे बढ़ने पर आत्मा की दृढ़ता है, सच्चे कर्तव्यों की निष्ठा है और सृष्टि के बन्धुत्व का अध्याय है, इस सत्य की प्रेरणा ने व्याध के हृदय को झकझोर दिया: 'आह मैं कब से जीवों का वध कर रहा हूँ और उसी मोह तथा लगन के पीछे आज दिन बीत गया, जल भी पेट में न गया। जीवन-भर की मेरी हिंसा के प्रतिकार में आज मेरे शरीर की हिंसा वह कौन अव्यक्त चेतना कर रही है। पर मैं तो अनजान व्याध हूँ, उस चेतना को मुझे क्षमा कर देना चाहिए। मैं अपनी इस व्याध-वृत्ति को, जो अब मेरा स्वभाव बन गयी है, छोड़ भी कैसे सकता हूँ?"

व्याध की आत्मा में जब ये भाव उठ रहे थे तभी एक हरिण वहाँ आ पहुँचा। हरिण की आँखें किसी को खोज रही थीं, वह चकपका रहा था, पत्तों की खरखराहट सुनकर उसके कान खड़े थे। व्याध ने धनुष पर बाण तान दिया, उसका हृदय आशा की ओर लौट पड़ा, तभी हरिण ने वृक्ष के मूल में अपने घुटने टेक दिये, जैसे उसने शिव से प्रार्थना की—"भगवन्! मेरी प्रिया और पुत्र मुझसे बिछुड़ गये हैं, मैं दिन-भर से बिना कुछ खाये-पिये उन्हें ही खोज रहा हूँ, उन से एक बार मिल पाऊँ, नहीं तो मेरे वियोग में वे प्राण छोड़ देंगे, फिर तो यह शरीर आपकी सेवा में अर्पित है। मुझे अपने प्राणों का मोह नहीं है।" व्याध ने हरिण की मूक भाषा पढ़ ली और धनुष पर से बाण उतार लिया तथा पुनः पत्तियाँ तोड़ने लगा, त्योंही हरिण निर्भय भाव से चौकड़ी मारता हुआ दूसरी ओर ओझल हो गया।

व्याध के मन में विश्वास जम रहा था कि अवश्य ही इस भूमि पर कोई न कोई देवता रहते हैं और यह वन-प्राणी उन्हीं के दर्शन के लिए आया था। पर यह विश्वास जम नहीं पाया था कि भ्रान्त और घबड़ाया हुआ एक दूसरा हरिण भी वहाँ आ पहुँचा और व्याध ने बाण तान दिया, हरिण निश्चल खड़ा हो गया और पेड़ में पहचान की जिज्ञासा से आखें गड़ाने लगा, साथ ही अपनी ऊँची साँसों से वेदना के भाव प्रकट करने लगा, जैसे वह भी भीख माँग रहा था, उतने समय की, जब तक वह अपने प्रिय साथी से मिल आए। व्याध ने उसे भी छोड़ दिया और हरिण उस वृक्षदेवता को सिर नवाता हुआ चला गया।

समय बीतता गया। पर व्याध वैसे ही पत्तियाँ तोड़ रहा था और उसके मन में आशा जग रही थी—"निश्चय वे हरिण अभी लौटेंगे। ऐसा प्रतीत हुआ है उनकी भाव भंगिमा से। उन्होंने याचना की है कुछ समय बाद पुनः लौटने की, इन वृक्षदेवता से, जब कि वे अपना शरीर इनको अर्पित करेंगे। पर उनका लौटना क्या सम्भव हो सकता है। कौन अपना प्राण देना चाहेगा। अब तो देर हो चुकी पर वे आये नहीं।'

व्याध यह सोच ही रहा था कि एक नन्हा-मुन्ना हरिण फिर वहाँ आ पहुँचा। व्याध ने तुरन्त वाण-सन्धान करते हुए गौर से उसकी भावभंगिमा देखी, वह व्याकुल था और व्याध के वाण को देखकर उसकी दुःखभरी साँसों से स्वर निकलने लगे—'मेरे माता-पिता बिछुड़ गये हैं, रात बीती जा रही है, मैं अभी तक निराहार घूम रहा हूँ। वे मिले नहीं। मैंने सोचा—वृक्षदेवता, शायद तुम्हारे पास ही मेरी टोह कर रहे हों। पर यहाँ भी नहीं हैं। मुझे थोड़ा समय दो, मैं माता-पिता से मिल आऊँ फिर तुम मुझे मार कर अपनी भूख मिटाना।'

पर व्याध ने बाण तान रखा और मन ही मन कहने लगा—'दो को तो छोड़ दिया, अब इसे भी छोड़ दूँ। भगवान् ने मुझे दिनभर का भूखा समझ कर ही तो इन्हें भेजा होगा। चले जाने पर फिर कोई आहार मिले या न मिले। पर कोई भीतर ही भीतर कह रहा है, जाने दो मत मारो, रोज तो जीवों का वध करते ही हो, आज अपने पेट का ही एक बार वध करो।'

हरिण का छौना व्याकुल होता रहा—'अविश्वास मत करो। मैं झूठ नहीं कह रहा हूँ, निश्चय ही तुम्हारे सामने पुनः उपस्थित होऊँगा। जैसे अब तक सन्तोष किया थोड़ी देर और सन्तोष करो।'

व्याध ने बाण खींच लिया पर उसका हृदय उद्विग्न हो उठा—'यह कैसी विडम्बना है, तीन-तीन हरिण आये और लौटने की प्रतिज्ञा करके चले गये। मैं भूखा हूँ पर हाथ में आये हुए भोजन को छोड़ दिया, मेरे हृदय में पुण्य की यह भावना, विश्वास की यह दृढ़ता कहाँ से आ गयी।'

रात धीरे-धीरे बीतने को चली, व्याध अपनी उदारता पर सन्तुष्ट था। वह हरिणों के लौटने की प्रतिज्ञा के कौतूहल में जब-तब डूब जाता था, थोड़ी देर बाद उसने सोचा अब वे नहीं आयेंगे। पर जैसे ही उसके मन में ये भाव आये वे तीनों हरिण तीन भिन्न दिशाओं से वहाँ आ पहुँचे। अभी तक आपस में, उनकी भेंट न हो सकी थी। इस समय मृत्यु के पहले एक दूसरे के मिल जाने के कारण उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने मूर्ति के सामने जो अब बिल्व पत्तों से ढक गयी थी, एक साथ अपने शीश झुका दिये।

व्याध की आत्मा कौतूहल से नाच उठी। "ये हरिण तो बहुत विश्वासी और शीलवान् निकले। पर क्या अब भी मैं इनका वध करूँ। नहीं, अब आज भूखा रह जाऊँगा, इनका वध नहीं करूँगा।"

इसी बीच घण्टों की मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी। देवों के विमान वहाँ उतर पड़े। भीड़-सी लग गयी। देवों ने कहा—"भाई व्याध, आज चतुर्दशी की शिवरात्रि में निराहार रहकर जो तुमने रात भर, शिव की मूर्ति पर बिल्व-पत्र चढ़ाये, तुम्हें नक्षत्र लोक में अमर निवास दिया गया। और प्यारे हरिणो! तुम्हारे इस सत्य और शील पर भगवान् भूतभावन बहुत प्रसन्न हैं, अब तुम्हें इस लोक में रखना भारी भूल होगी, तुम्हें भी हम नक्षत्र लोक में ले चलेंगे।"

व्याध और हरिण विमानों पर चढ़ा लिये गये। देवों ने उनको क्रमशः आर्द्रा और मृगशिरा नक्षत्र लोकों में सुखकर निवास दे दिया। भूतभावन भोलेनाथ की भोली-भाली कृपा का समस्त जंगल में कीर्तिगान होने लगा और तभी से वह शिवरात्रि भी महाशिवरात्रि बन गयी।

१२. ब्रह्मविद्या के अवतार

हाँ, तो इतने बड़े अवधूत का नाम क्या रखा था पिता ने। ऋषियों ने बड़ी उत्सुकता से पूछा।

'नाम''''''नाम की चर्चा तो भगवान् व्यास ने नहीं की है, हाँ, पीछे वे जड़ भरत के नाम से विख्यात हुए।'

इतना कह कर सूतजी ने आगे की कथा शुरू की। नैमिष के जंगल में बैठे हुए अट्ठासी हजार ऋषि ब्रह्मविद्या का इतिहास सुन रहे थे और सूतजी मेघ के समान ब्रह्मरस की बूँद बरसा रहे थे, सुनायी जा रही थी ब्रह्मविद्या के एक जन्मजात आचार्य की कहानी—

पिता उसे वेदाध्ययन कराना चाहते थे लेकिन चैत्र से आषाढ़ तक बहुत प्रयत्न करने पर भी उस बालक ने अच्छी तरह गायत्री मन्त्र भी न याद किया। पिता उसे ब्राह्मण-कुल के अनुरूप अग्निहोत्र, ब्रह्मचर्याश्रम आदि नियमों की शिक्षा देते रहे, परन्तु शिक्षा पूरी न हुई और वह बीच में ही परलोकवासी हो गये। निदान बालक वेद और शास्त्र की शिक्षा से वंचित रह गया।

भरत के शेष नौ भाई कर्मकाण्ड के पंडित थे, वे भरत को मूर्ख समझते थे। पागल की तरह घूमते, मौन और धूल-धूसरित भरत को देखकर उन्होंने उपेक्षित कर दिया और न उसको पढ़ने के लिए आग्रह किया एवं न घर रहने के लिए बाध्य।

भरत अब घूमते रहते। वे किसी की कही हुई बात को सुनते नहीं थे, इसलिए लोग उन्हें बहरा कहते थे। वे किसी से बोलते नहीं थे, इसलिए लोग उन्हें गूँगा कहते थे। उनके ऊपर लड़के शरारतवश मिट्टी और कीचड़ उछालते थे पर वे उस पर कुछ ध्यान नहीं देते थे, अतः लोग उन्हें पागल समझते थे।

जाड़े की ठण्डी रात भरत खुले मैदानों में बिताते रहे। गरमी बीत गयी, भरत धूप में टहलते रहे। बरसात आयी भरत दिन-रात पानी में भींगते रहे, किन्तु जैसे धरती पर स्वच्छन्द चरता हुआ साँड़ खूब मोटा ताजा रहता है वैसे ही इन्द्रियों के बन्धन से स्वतन्त्र भरत जाड़ा, गरमी, बरसात और हवा-अन्धड़ के भीषण तूफानों को अपने शरीर पर झेलकर भी हृष्ट-पुष्ट और निर्द्वन्द्व रहे। सिर के बाल उलझे तथा बिखरे हुए थे, पर उनका अन्तःकरण परम स्वच्छ और प्रसन्न था।

लोग उनको मोटा ताजा देखकर उनसे मजदूरी करवाते थे। यही नहीं उनसे जो जैसा कहता वे वैसा ही करने लगते और जो जैसा भोजन देता, उसको समभाव से खा लेते।

अगहन का महीना था, अभी गेहूँ, जौ के खेत बोये जा रहे थे। भाइयों ने भरत को दूसरे की मजदूरी करते देख अपना अपमान समझा और उन्हें दूसरे की मजदूरी से हटा कर अपने ही खेतों की क्यारियाँ बनाने में लगा दिया।

अब भरत सेंवार में रहते। क्यारियाँ तो उनसे बन नहीं पाती थीं, फिर भी जो कर सकते थे करते थे। उनके भाई घर में जो कुछ बचा-खुचा भोजन होता था उन्हें खाने के लिए पहुँचा आते थे। वह भोजन होता था—बटलोही के नीचे का जला हुआ तरछन भात, चोकर की मोटी रोटियाँ, कना और थाली में खाने से बची हुई दाल-रोटी आदि। भरत उसे बिना संकोच या आसक्ति के खा लेते थे।

एक दिन उधर ही से सिन्धु-सौवीर-प्रदेश का राजा रहूगण ब्रह्मविद्या के ज्ञान की जिज्ञासा से महर्षि कपिल के पास जा रहा था। उन दिनों क्षत्रियों में ब्रह्मविद्या के प्रति बड़ी लगन थी। अपने को ज्ञान से जीवनमुक्त समझना, ऐसी ही कुछ उन राजाओं की ब्रह्मविद्या थी।

हाँ, तो रहूगण पालकी पर चढ़ कर जा रहे थे, ठीक उधर से जहाँ जड़ भरत रहते थे। वहीं इक्षुमती के किनारे पालकी का एक कहार बीमार होने से

चलने में असमर्थ हो गया और कहारों के मुखिया ने आदमी की खोज करनी शुरू कर दी। तब तक पास में ही उसे हृष्ट-पुष्ट भरत मिल गये और वह उन्हें पकड़कर ले आया।

भरत ने बिना रोक-टोक के पालकी को कन्धे पर उठाया और कहारों को सहयोग दिया, लेकिन अब इस नये कहार के आने से पालकी सीधी चाल से नहीं जा रही थी। क्योंकि भरत एक धनुष की दूरी तक देखते हुए, कि कोई जीव तो नहीं दब रहा है, सँभाल-सँभाल कर पैर रखते थे और यदि कहीं अचानक पैर के नीचे चींटी जैसे जीव दबने को हुए अथवा ऊँची-नीची जमीन पड़ी तो भरत पालकी लेकर आगे उछल पड़ते थे। जब ऐसा दो-तीन बार हुआ तो राजा बिगड़ उठा।

कहारों ने देखा कि यह तो एक के दोष से हम सभी मारे जायेंगे, वे डर कर निवेदन करने लगे--'पृथ्वीपाल, हमारा कोई दोष नहीं है, यह नया कहार बिगाड़ रहा है।'

राजा ने सिर बाहर निकाल कर देखा, आदमी तो बहुत ही मोटा-ताजा है पर डगमगा रहा है राह चलते। राजा ने व्यंग्य करते हुए कहा—"ओह मित्र, बहुत ही दुर्बल हो तुम। बुढ़ापे ने भी तुम्हें आ घेरा है। थके भी बहुत मालूम पड़ते हो और अन्य कहार तुम्हें ठीक से सहायता भी नहीं कर रहे हैं।"

भरत मौन रहे पर शीघ्र ही पुनः पालकी डगमगायी। अब तो राजा को अत्यधिक क्रोध आया और उसने कर्कश स्वर से डाँटकर अपना क्रोध प्रकट किया—"मालूम पड़ता है तू मर गया है, जीवित नहीं है क्या? मेरी बात तेरे कानों में नहीं पड़ती, ध्यान रख, जैसे यम दुष्ट प्राणियों को दण्ड देते हैं, मैं अभी तुम्हें इस निरादर करने का फल चखाता हूँ।" राजा यह कहकर तलवार लिये पालकी से कूद पड़ा।

कहार डरे, पालकी रख दी गयी और वे हाथ जोड़कर खड़े हो गये। भरत अब तक तो निश्चय पालकी ढोते चले आ रहे थे पर राजा की यह दशा देखकर मुस्करा उठे और अपनी शान्तवाणी में कहा—"राजन्, आपकी बात

बहुत ठीक है, बोझा किसी को ढोने के लिए ही है, रास्ता किसी के चलने के लिए ही है, मोटापन भी शरीर का ही है, मार्ग में डगमगा भी वही रहा है पर इससे आत्मा का क्या? यह सारी बात तो शरीर की है। भूख,प्यास, बुढ़ापा, मोटापा, दम्भ और अभिमान, क्रोध और भय उसके लिए है जो इन्द्रियों के आनन्द में लीन है, शरीर के अपनत्व में डूबा है। मैं तो अकेले आत्मा को लेकर इन सबकी दुनियाँ से अलग हूँ। आप दण्ड किसे देंगे शरीर को या कि आत्मा को।"

अब तो राजा के सामने धरती घूमने लगी, उसने देखा—जैसे बादलों से ढका हुआ सूर्य घटाओं को चीर कर चमक उठा हो और उसका प्रकाश शरीर को गरम करे, वैसे ही भरत की मुस्कराहट से उसका शरीर सन्तप्त हो उठा। ऊपर से आच्छादित और भीतर से प्रकाशित महान् आश्चर्य राजा को दीख पड़ा। वह पसीने में डूब गया और उसकी आत्मा उसे कोसने लगी—इतने बड़े योगी से तुमने पालकी उठवायी, राजा की तलवार हाथ से छूट पड़ी और उसने भरत के पैरों पर गिर कर कहा—"भगवन्, हम आपको पहचान न सके, अवश्य ही आप जन्म से ब्राह्मण हैं। मुझे इन्द्र के वज्र, यम के पाश और रुद्र के त्रिशूल से बढ़कर भय ब्रह्म-तेज से है और आपका यह तेज मुझे अनुतप्त कर रहा है। मेरा यह गुरुतर अपराध......योगेश्वर! आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों में से तो नहीं हैं अथवा साक्षात् भगवान् कपिल ही मेरे सामने खड़े हैं!"

"उस राजा और पालकी ढोनेवाले कहारों में कहार अधिक भाग्यवान् थे जो उन्होंने जड़ भरत के साथ पालकी उठायी।" श्रोता ऋषियों में से कुछ ने कहा।

हाँ, उधर कहार भी विस्मय में अवधूत के पैरों पर गिर पड़े, उन्हें भास हुआ, अहो जिसके पास पृथ्वीपाल जा रहे थे, हम सबने उन्हीं से पालकी उठवायी।

इतनी कथा कहकर सूत जी भी आत्मविभोर हो गये।

१३. जहाँ ब्राह्मण और शूद्र का भेद नहीं

मगध प्रदेश में सोननद का छिटपुट वनखण्ड उन छोटी जातियों से भरा था, जो प्रायः जंगल की जड़ी-बूटियाँ खोद कर, चमड़े की वस्तुएँ बना कर और जंगली लकड़ियाँ काट कर बेंचती हुई अपनी जीविका चलाती थीं। जीविका का यह साधन अन्न और वस्त्र के लिए भी भरपूर नहीं होता था, अतः सभी अधिक से अधिक सम्पत्ति पाने के लोभ में चिन्तित रहते थे। हर कोई एक दूसरे से ईर्ष्या करता था। प्रायः सभी अपहरण करने और झूठ बोलने के अवसर से चूकते नहीं थे।

पर उनमें था एक महाभाग्यशाली शूद्र, जिसे लोभ ने कभी आकृष्ट नहीं किया। जाड़े की ठंडी रातों में वस्त्रहीन रहकर और आधे पेट भोजन करके भी, वह परिवार के साथ मात्र आग जला कर, सुख का अनुभव प्राप्त कर लेता था। स्त्री और पुत्रों की दीनता देख कर भी उसका हृदय कभी लोभ से विचलित न हुआ।

एक दिन वह जंगल से फल और जड़ी बूटियों का गट्ठर लेकर घर की ओर आ रहा था, रास्ते में, नदी पर स्नान करके, कपड़े के अभाव में गीला उपरना ही पहने हुए, ज्योंही अपना गट्ठर लेकर ऊपर चढ़ा उसे कगार पर, एक झाड़ी के पास, धोती और उपरने का जोड़ा रखा हुआ दिखायी पड़ा। उसने उसे देख कर चारों ओर आँख दौड़ाना शुरू किया। लेकिन जब कोई नजर के सामने न आया तब उसने दुःखी होकर अपना रास्ता लिया—'बड़ा लापरवाह है वह आदमी जिसने यहाँ एकान्त में धोती और उपरना यों ही फेंक दिए हैं!'

वह घर की ओर कुछ ही दूर गया होगा, कि तब तक, रास्ते के पास, एक गूलर का फल और उसमें छिपाकर रखी हुई दो सुवर्ण मुद्राएँ दीख पड़ीं। उसे

आश्चर्य हुआ और उसकी गरीबी ने उसके अन्तःकरण से मचल कर कहा—'अब इन मुद्राओं को जरूर उठा लो, भगवान् ने तुम्हारे त्याग और सन्तोष से प्रसन्न होकर तुम पर साक्षात् कृपा की है।'

किन्तु मन की इस मुद्रा से शूद्र के दृढ़ विचार में कोई परिवर्तन न हुआ। उसने पहले चारों ओर निस्पृह भाव से देखा और फिर अपने मन से कहा—"सुवर्ण की दो मुद्राएँ मेरे जीवन का भार कब तक वहन करेंगी, यदि मुझमें पौरुष, संयम और सन्तोष न रहा, क्षमा न रही तो सोने का पहाड़ भी हमें सुखदायी न होगा। धन तो उसका है, जो परिश्रम करे, नहीं तो फिर, वसुन्धरा ही उसकी स्वामिनी है।"

मानो उस निर्मल आत्मा के मार्ग में आया हुआ अंधकार दूर हो गया और वह प्रसन्नता का अनुभव करते हुए घर पहुँचा।

नदी और जंगल के प्रकृति-सामंजस्य ने एक क्षपणक को भी उसी दिन उस वस्ती की ओर आकृष्ट किया। क्षपणक ने कुछ ही क्षणों में, अतीत और आगत की बातें बताते हुए बहुत से गरीबों को अपना भक्त बना लिया। संयोग से उस निर्लोभी शूद्र की स्त्री भी उसके पास अपना भाग्य पूछने पहुँच गयी। क्षपणक ने उसे पहचाना, उसका हाथ देखा और देखते ही कहने लगा—"आज तो तुम्हारे स्वामी को प्रत्यक्ष ही बहुत-सा धन मिला था, लेकिन उसने उस आती हुई लक्ष्मी की अवहेलना कर दी। तुम घर जाकर यह बात पूछो। मालूम होता है, तुम्हारे स्वामी के भाग्य में भोग लिखा ही नहीं है। और वह जब तक जीवित रहेगा, तुम्हारे परिवार की दरिद्रता नहीं दूर होगी।"

उत्सुकता में डूबी हुई वह स्त्री पति के पास आयी। और कुछ देर बाद, स्त्री के साथ, विस्मय में भरा हुआ वह शूद्र, उस क्षपणक के पास आया। उसने प्रणाम करते हुए क्षपणक से कहा—'भगवन् आप क्या कह रहे थे?'

"भाई यह कह रहा था, कि आज तुमने प्रत्यक्ष आयी हुई लक्ष्मी की अवहेलना कर दी है, जो ठीक नहीं। इसके कारण तुम्हें जीवन भर दरिद्रता भुग-

तनी पड़ेगी। मृतकों का-सा जीवन बिताना पड़ेगा। इसलिए अब भी अच्छा है तुम जाकर आदर-पूर्वक उस धन को ग्रहण करो।"

"भगवन्! आप ठीक कहते हैं, लेकिन मुझे धन नहीं चाहिए। जीवन में जो सहज कर्म सामने आता जा रहा है, उसे निभाते जाना ही मेरा आनन्द है। भला बिना पौरुष के ही, अकस्मात् मिला धन लेकर मैं क्या करूँगा। इस अनर्जित धन का उपयोग करके मेरे पुत्र उन्माद से भर उठेंगे। उन्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं, इसका ध्यान न रहेगा। फिर वे क्रमशः मोह, अहंकार, लोभ और क्रोध से पराधीन हो जायेंगे। यही नहीं परिश्रम के बिना मिला हुआ धन हमारे सभी सत्कर्मों का नाश करके हमें सदा के लिए पतन के गर्त में ढकेल देगा।"

"मैंने तो तुम्हारे हित की बात कही, लेकिन तुम ज्ञान छाँटने लगे। अरे! यदि बिना परिश्रम के धन मिल जाता है, तो दान करो, यज्ञ करो और पुण्य कमाओ। धर्म के अनेक अनुष्ठान, कथा-श्रवण तथा तीर्थाटन आदि उस धन से हो सकते हैं, फिर उस पुण्य से अच्छे दिव्यलोक की प्राप्ति होती है। धन से भोग और सुख के साथ ही कुल, शील और विद्वत्ता भी प्राप्त होती है। भला लक्ष्मी का अपमान करके किसने जीवन में कल्याण प्राप्त किया है?"

"प्रभो! मेरे लिए तो परिश्रम ही धन है। दूसरे के धन को मैं मिट्टी के ढेले के समान समझता हूँ। मैं पराया धन लेकर यज्ञ और दान नहीं करना चाहता। कामनाओं का त्याग ही मेरे लिए व्रत और अनुष्ठान हैं। क्रोध की विजय ही तीर्थाटन है। दया जप है। उपवास तपस्या है। अहिंसा बहुत बड़ी सिद्धि है। खलिहानों, खेतों और बाजारों में छिटके हुए अन्न के दाने अवश्य मेरी जीविका हो सकते हैं पर मनुष्य की आँखों से ओझल, अकस्मात् पड़ी हुई मिल जानेवाली धनराशि नहीं। साग का भोजन भी मेरे लिए अमृत है, लेकिन यदि पराये धन से आलसी बन कर आनन्द उठाता हूँ तो वह मेरे लिए शरीर में कीचड़ लपेटना होगा, जिसे फिर धोने के लिए बड़ा श्रम करना पड़ेगा। अतः क्षपणक जी! आप मुझे इस सम्बन्ध में क्षमा करें।"

क्षपणक निरुत्तर हो गया। शूद्र प्रणाम करते हुए घर की ओर बढ़ा। लेकिन उसके साथ क्षपणक का हृदय बँधा चला जा रहा था। क्षपणक अधिक देर तक अपने को छिपा न सका। और आगे बढ़ कर देव-रूप में खड़ा हुआ—"धन के ऊपर पैर रखनेवाले मेरे समानधर्मा! तुम मनुष्य नहीं देव हो। मनुष्यों की इस दरिद्र बस्ती को छोड़ो और मेरे साथ देवों के दिव्य लोक में चलो, जहाँ हम लक्ष्मी को नाच नचाते हैं, सरस्वती से वीणा बजवाते हैं। जहाँ ब्राह्मण और शूद्र में ही नहीं, पशु और मनुष्यों में भी अन्तर नहीं देखा जाता। जहाँ आग-पानी का अजब संयोग है, भोग है और आत्मयोग है।"

१६. कौन छोटा, कौन बड़ा

यह जिस युग की कहानी है उस युग तक राजर्षियों में आत्मविद्या के प्रति धारणा दृढ़ न हो पायी थी। उनके यश-मान, शिष्टानुशासन, पाप-पुण्य सब के भोग का अधिकारी शरीर था। ऐसे राजर्षि जो शरीर को भोग का अधिकारी नहीं भी मानते थे और आत्मतत्त्व में विश्वास रखते थे, उनके पास भी आत्मतत्त्व का आधार मीमांसा का यज्ञकाण्ड था, ब्रह्म का बोध करानेवाली निर्मल आत्मविद्या नहीं। पृथ्वी पर किये गये विविध दान-पुण्य से अन्त में स्वर्ग और उसके भोगों की प्राप्ति उनका उद्देश्य था, आत्मा का अखंड आनन्द नहीं। पुण्य के अनुसार वे स्वर्ग का भोग भोगते थे पुण्य के क्षीण हो जाने पर उन्हें फिर पृथ्वी तल पर आना पड़ता था। इसके बाद फिर वही क्रम चलता—स्वर्ग के लिए पुण्य का उपार्जन। पुण्य की यह साधना ही उनका राजर्षित्व था।

पुण्य के उपार्जन के साधन भी उन राजर्षियों के पास थे। दानवों की शक्ति अस्त हो चुकी थी। सत्य और शील जिसकी आत्मा में बसा है ऐसे लोक-जीवन में किसी अनुशासन की आवश्यकता शायद ही कभी पड़ती होगी। राजा लोक की दृष्टि में ईश्वर का अंश था। रत्न, सोना, मणियों का सत्पात्र था वह, तथा कर के रूप में प्राप्त विपुल अन्न और गोधन उसके राज-भवन में समाते न थे—यज्ञ, दान और पुण्य का यह भरपूर साधन उन राजर्षियों को आकुल किए रहता था। अनुशासन और दण्ड की आवश्यकता न रह जाने से उनमें सत्य और शील का प्रबल उत्कर्ष हो रहा था।

ऐसे ही दो राजर्षि एक दिन अपने-अपने रथ पर सवार एक ही राजमार्ग पर आमने-सामने आ गये। एक थे कुरुकुल के राजा सुहोत्र और दूसरे थे उशीनर वंश के नरपति शिबि। अपने-अपने शील, औदार्य, दान और पुण्य

के लिए दोनों ही भरत-भूमि में विख्यात थे। दोनों ने एक दूसरे को देखा और अभिवादनपूर्वक एक दूसरे का सम्मान किया। तब तक दोनों रथों के घोड़ों के बीच केवल एक धनुष का अन्तर रह गया। किसी राजर्षि ने सारथी को राह छोड़ने का आदेश न दिया। सारथियों ने अपने-अपने राजर्षि की ओर गर्दन घुमायी पर राजर्षि चुप थे। दोनों राजर्षि एक दूसरे के गुणों का लेखा-जोखा लगाने लगे पर देखा दोनों के गुण-शील का परिमाण एक समान है। इसलिए किसी ने अपने को छोटा न अनुभव किया और न अपने रथ को मार्ग के किनारे लगाने का आदेश दिया, जिससे कि दूसरे का रथ अपने मार्ग पर आगे निकल जाय। धर्म-व्यवस्था की यह जटिल आधार-निष्ठा उन पुण्यशीलों के सामने उपस्थित हो गयी। अपने को छोटा समझने के लिए दोनों संशय में डूब-उतरा रहे थे।

ठीक उसी समय, उपयुक्त अवसर पर, देवर्षि नारद वहाँ पहुँच गये, उन्होंने देखा—दो रथ एक दूसरे के सामने अड़े हैं, वस्तुस्थिति को समझते हुए भी कौतुकी नारद पूछ बैठे—कारण क्या है कि दोनों राजर्षि एक दूसरे का मार्ग रोक कर खड़े हैं?

सुहोत्र ने उत्तर दिया—'देवर्षि, आपको प्रणाम है, ठीक समय पर आपका दर्शन हुआ, आपकी ही आवश्यकता थी। मैं और नरपति शिवि दोनों परस्पर एक दूसरे के मित्र हैं, संयोगवश आज एक ही मार्ग पर हम दोनों के रथ आमने-सामने आ गये, मित्र के व्यवहार के अनुसार हमने एक दूसरे को अभिवादन किया, पर कौन किसके लिए रास्ता छोड़े इस प्रसंग पर हम अपने पूर्वज धर्म-व्यवस्थापकों की इस व्यवस्था से उलझन में पड़ गये हैं कि छोटे व्यक्ति को अपने से श्रेष्ठ गुणवाले के लिए रास्ता देना चाहिए, हम यह निर्णय नहीं कर पा रहे हैं कि हम दोनों में से कौन श्रेष्ठ है?'

नारद ने शिवि की ओर देखा, शिवि ने कहा—'देवर्षि को यह शिवि प्रणाम करता है। मैं और सुहोत्र एक दूसरे के सखा हैं, परस्पर अभिन्न हैं, दोनों के रथ आज एक ही रास्ते पर आमने-सामने आ गये और आप लोगों

की धर्मव्यवस्था ने मुझे उलझन में डाल दिया—अपने से अधिक गुणशीलवाले के लिए मार्ग छोड़ना चाहिए यह धर्म की प्रतिष्ठा है। हम दोनों गुण-शील में एक समान हैं। ऋषियों की धर्म-व्यवस्था से यह शिवि बहुत डरता है। आप इस समान गुण, शील की नयी समस्या पर नयी व्यवस्था दें, अथवा यह निर्णय दें कि शिबि किसके गुण-शील को प्रणाम करे।'

अब नारद बोले—'राजर्षियो! ऋषि कोई नयी व्यवस्था नहीं देता। धर्म की समस्त व्यवस्था वेद है। वेद ऋषि की रचना नहीं है, साधना द्वारा ऋषि का किया हुआ साक्षात्कार है। पृथ्वी-लोक से अन्तरिक्ष-लोक के भीतर धर्म की सभी व्यवस्थाएँ सृष्टि के स्तर में विद्यमान हैं। क्योंकि वे अनादि हैं, नित्य हैं, सभी साधक योगी के लिए उनका साक्षात्कार सुलभ है। जो पुण्यशील है, धर्म अपने आप स्वयं उसके सामने प्रकट हो जाता है। मुझे आश्चर्य है, गुणी और पुण्यशील राजर्षियों के अन्तःकरण में उस अदृष्ट धर्म-व्यवस्था का साक्षात्कार क्यों न हुआ?'

नारद की इस ऋषिवाणी से दोनों राजर्षि लज्जित हो गये। नारद ने फिर कहा—'धर्म की तो अनेक व्यवस्थाएँ हैं। उत्तरोत्तर जिसकी आत्मा जितनी महान् होती है वह उतनी ऊँची धर्म-व्यवस्था को पालन करने में समर्थ होता है। यदि दुष्ट के साथ कोमलता का व्यवहार कोई करे तो वह दुष्ट उसके प्रति अवश्य ही कोमल बन जायगा। यह दुष्ट की कोई विशिष्टता न होगी, विशेषता उस साधु की होती है जो दुष्ट व्यवहार करनेवाले क्रूर के प्रति भी साधु व्यवहार करता है। ऐसा साधु क्या सज्जन के साथ दुष्टता करेगा?

'क्षमा और उत्तम व्यवहार से दुष्टों को जीता जाता है, नीच प्रकृतिवाले दान से वश में हो जाते हैं। पाखंडी और झूठा व्यक्ति अपने प्रति सत्यशीलता से प्रभावित हो जाता है, किन्तु राजर्षियो! जो इनसे ऊँचा उठा है उसे वश में करने के लिए कुछ और विशिष्ट गुण की अपेक्षा होती है।

'मेरी दृष्टि में दोनों ही राजर्षि गुणी और उदार हैं, मैं यहाँ क्या व्यवस्था दूँ? पूर्व ऋषियों की कही हुई वाणी को ही दुहरा रहा हूँ, तुम दोनों में से

जो अधिक उदार हो अपने को छोटा मान ले, रास्ता छोड़कर वह हट जाय, दूसरे के रथ को निकल जाने दे !'

नारद ने यह कह कर मौन स्थिति में दोनों राजर्षियों की ओर देखा। कुछ देर चुप रह कर वे फिर बोले—'कौरव सुहोत्र ! केवल देवता ही यज्ञ के उपकार का प्रत्युपकार नहीं चुकाते। मनुष्य भी अपने उपकारी को सौगुना बदला चुका सकता है। उशीनर-पुत्र राजा शिवि का शील-स्वभाव तुमसे कहीं अच्छा है।'

नारद के यह कहने पर सुहोत्र ने शिवि के लिए अपनी दायीं ओर से रास्ता दे दिया और धर्म-व्यवस्था के अनुसार शिवि के सत्कर्मों का उल्लेख कर उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

१५. तप के कौतुकी बालक

मायामय संसार को त्यागकर ब्रह्म को प्रत्यक्ष देखने का कौतूहल उन ब्राह्मण-कुमारों के अन्तःकरण में जाग उठा, जो अभी चौदह वर्ष के थे, जिनके जीवन के सारे कर्म अभी अनकिए पड़े थे, जिनके मुख पर अभी रेख भी नहीं आयी थी और जिन्होंने अभी जगत् को मायामय देखा नहीं था, केवल सुना था, माता-पिता, गुरुकुल के आचार्य, गायें, बछड़े, जंगल और गाँव से आगे जिनकी दुनिया का विस्तार अभी नहीं था।

उन कुमारों की मित्र-मण्डली सात की थी। सभी माता-पिता और गुरु की आज्ञा के बिना ही जंगल की ओर वैराग्य की साधना के लिए चल पड़े। उन्होंने सिर के बाल बनवा दिये थे और हाथ में कमण्डलु ले रखा था। जंगल में पहुँच कर वे नदी के तट पर अपने निवास और ब्रह्मचर्य जीवन की कल्पना करने लगे। गृहस्थ धर्म में अप्रविष्ट वैराग्य धारण करनेवाले उन कुमारों को देवराज इन्द्र ने भी देख लिया।

सदैव ही आकाश ने धरती की चिन्ता की है। मनुष्य की अपेक्षा उसके लोकजीवन की अधिक ममता देवों में रही है, कर्मलोक के बिना भोगवाद की क्या दुर्दशा होती है, इसको वे जानते हैं। उन कुमारों की प्रव्रज्या देखकर इन्द्र के होठों पर दुःखभरी हँसी फूट पड़ी। वे उन्हें इस मार्ग से विरत करने का उपाय सोचने लगे पर साक्षात् मिल कर समझाना भी कल्याणकर नहीं था, क्योंकि ऐसा करने से कुमारों में दम्भ की भावना आ जाती, वे सोचते यह हमारे वैराग्य का ही प्रभाव है कि देवराज इन्द्र हमारे सामने प्रकट हुए हैं।

अतः ये कुमार जिस प्रकार अपने इस कार्य को अपनी भूल और अपनी अज्ञानता अनुभव करें तथा उन्हें सच्चे कल्याण-मार्ग का बोध हो, ऐसा एक उपाय इन्द्र ने सोच निकाला।

दोपहर की वेला में वे प्रव्राजक कुमार भिक्षापात्र लिये भिक्षा करने जा रहे थे तथा अपने-अपने ज्ञान की वार्ताओं से ब्रह्म के आश्चर्यों का वर्णन करने में तत्पर थे, तभी उन्हें एक नया आश्चर्य आँखों के सामने दिखायी पड़ा। सुवर्ण के रंग-सा चमकता हुआ एक सुन्दर पक्षी पेड़ की डाल पर बैठा मनुष्य की बोली बोल रहा था।

कुमार रुक गये, उन्होंने उस पक्षी का संवाद सुना—"यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषों ने जो महान् कर्म इस पृथ्वी पर किया है वह दूसरों से किया जाना सम्भव नहीं। उनका जीवन बहुत ही उत्तम था और बड़ा ही पवित्र। जीवन का सच्चा पर्यवसान उन्हें संसार में मिला।"

पक्षी को ये बातें सुनकर बालक ऋषियों ने आपस में कहा—"निश्चय ही यह पक्षी हम लोगों के उत्तम जीवन को लक्ष्य करके कह रहा है क्योंकि यहाँ पर हमी लोग भिक्षा माँगकर यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाले व्यक्ति हैं।"

यह सुनते ही पक्षी अवज्ञा की हँसी हँसते हुए बोला—"अरे मैं तुम जैसे मूर्खों की प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ जो शरीर में धूल और कीचड़ पोते हुए दरवाजे-दरवाजे पर जूँठन माँगते घूम रहे हैं। यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करने-वाले वे पुरुष तो दूसरे ही हैं।"

"कौन हैं वे ? हमें भी अपने जीवन को ऊँचा उठाने की अभिलाषा थी और हमने इस मार्ग को कल्याणकर समझकर अपनाया था। अब तो हमें तुम्हारी बात पर अधिक श्रद्धा है, आप ही बताइए, धर्म का जो श्रेष्ठ मार्ग हो, हम उसे स्वीकार करेंगे।" कुमारों ने उद्बोध और जिज्ञासा के साथ कहा।

वे वृक्ष की डाल की ओर आँखें उठाकर खड़े हो गये। पक्षी बोला—

"अच्छा तो मूँड़ मुँड़ाकर वैराग्य का जीवन किस सहारे से बीतेगा। केवल भिक्षा माँगकर पेट भरते हुए या जंगली कन्द-मूलों को खोद-खोदकर खाते हुए। यदि आप लोगों ने केवल कन्द-मूलों को खाया तो बेचारे जंगल-वासी वन शबर, कोल और भीलों की जीविका उच्छिन्न हो जायगी जो वन की

उपयोगी वस्तुओं को गाँवों तथा नगरों तक पहुँचाया करते हैं। और आपने यदि गाँवों से भिक्षा माँगकर अपने वैराग्य जीवन का पालन किया तो समाज में गाँवों के गृहस्थ-जीवन की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। और जब आप जैसे लोग उससे दूर भाग रहे हैं तब लोक में उसके अनुशासन एवं संरक्षण की समस्या भी उपस्थित होती है जो वेदों के स्वाध्याय के बिना हो नहीं सकती। पर भला अब वेदों का स्वाध्याय कैसे होगा, जब चौदह वर्ष के ही बालक गुरुकुल छोड़कर वैराग्य लेने लगे; गृहस्थजीवन छोड़कर आराम से भिक्षा पर जीवन विताने लगे।

"अब तक यही सनातन परम्परा चली आती रही है कि हम वेदों का स्वाध्याय करके अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों को प्रसन्न करते हैं और फिर वेद के अनुसार यज्ञ तथा श्राद्ध करके देवों और पितरों की पूजा निभाते हैं। लेकिन जिस दिन वेद के स्वाध्याय और गृहस्थजीवन के पालन की यह पद्धति समाप्त हो जायगी, हम अपनी सनातन परम्परा से छूटकर एक मरुस्थल के युग में पहुँच जायेंगे, वहाँ संस्कृति की अविच्छिन्न प्रवाहित धारा न होगी, वरंच छिटपुट जलाशयों के नखलिस्तान मिलेंगे और हम एकता के तार से टूटे हुए पथभ्रष्ट यात्री होंगे।"

"यदि वेद का स्वाध्याय ही सब कुछ है तो तप की ऊँची महिमा लोक में क्यों गायी जाती है?" कुमारों ने बीच में जिज्ञासा की।

"वह भी ठीक है। और आप जैसे तप की ओर अभिलक्ष्य कर रहे हैं, उस तप की साधना भी इस लोक में की गयी है। किन्तु ऐसे तप करनेवाले आत्मा से शक्तिमान् बहुतों में से कोई-कोई होते हैं, जिन्होंने आहार, निद्रा, राग और द्वेष आदि से अपने मन को उन्मुक्त कर लिया है। उन्मुक्त होने की यह दशा भी जिन जन्मान्तरीय संस्कारों से आती है उनमें वेद का स्वाध्याय ही मूल कारण है।

"किन्तु जंगल में रहकर घोर तप का आचरण करने से ऊँचा गौरव गृहस्थ-जीवन की तपस्या का है। जो गृहस्थ किसी के प्रति ईर्ष्या नहीं रखता है

तथा सुख-दुःख, हानि-लाभ, राग-विराग आदि द्वन्द्वों से जिसकी आत्मा प्रभावित नहीं होती, गृहस्थ-जीवन में उसकी इस अद्रोह और निर्द्वन्द्व स्थिति को ब्रह्मर्षियों ने महातप कहा है।

और लोक-कर्म के बीच जीवन को गतिमान् करते हुए जो नित्यप्रति यज्ञ और श्राद्ध से देवों तथा पितरों को सन्तुष्ट करके आए हुए अतिथियों को बिना भोजन कराए लौटने नहीं देता, फिर अपने कुटुम्ब को भी भोजन देकर प्रसन्न करता है और उसके बाद शेष बचे हुए अन्न से अपनी भूख मिटाता है उसे ही यज्ञ से अवशिष्ट अन्न का भोजन करनेवाला विघशासी पुरुष कहते हैं, न कि आप जैसे मूँड़ मुँड़ानेवालों को, जो लोककर्म से भागकर भिक्षावृत्ति पर तप का आचरण करना चाहते हैं।"

इतना सुनते ही कुमारों के हाथ से भिक्षापात्र छूटकर धरती पर गिर पड़े। पक्षी भी अपना उद्देश्य सिद्ध कर तब तक उड़ चुका था, जब तक कि कुमारों के हृदय इस उपदेश से प्रभावित होकर पुरुषार्थ के लिए उद्यत हो उठे थे।

१६. अकाल क्यों पड़ता है ?

दिन ढलने लगा और सूर्य की किरणों का ताप कुछ कम हुआ। सूखे पेड़ों की चितकबरी छाया में विश्राम करनेवाले अधमरे प्राणी अब उठने लगे। बीसों गिरोह थे। प्रत्येक में कुल मिलाकर आठ-दस पुरुष, स्त्री और बच्चे थे तथा वही एक दो गाय। साथ के पात्रों में कुछ जल था और पोटलियों में खाने योग्य कुछ जंगली चीजें। सभी मन्थर गति से चले जा रहे थे, बोलने की शक्ति भी नहीं थी। कभी कोई पूछ बैठता था—

"अभी कितनी दूर है गौतम का आश्रम।"

तो सन्तोष देने के लिए दूसरा हाथ की पाँचों उँगलियों को उठाते हुए धीरे से कहता—"बन्धु, अभी पाँच दिन चलना होगा।"

इतने पर सब अधीर हो जाते—"तब तक तो हममें से कितने चल बसेंगे और ये गायें तो नहीं ही रहेंगी।

स्त्रियाँ आपस में कहती—"कैसे हैं वे गौतम, कैसा है उनका आश्रम और उनकी तपस्या। क्या सचमुच उनके यहाँ सुकाल छाया हुआ है ?"

यह था अकाल का दृश्य। रास्ते में सभी प्रदेश वीरान दिखायी पड़ते थे, हरियाली का नाम नहीं था, पेड़ सूख कर ठूँठे खड़े थे, पानी खोजने से भी नहीं मिल सकता था। वह युग भी था ऋषियों के आश्रमों का, गुरुओं के गुरुकुलों का और शतगु, सहस्रगु कहे जानेवाले गोधन के गृहस्थ धनपतियों का, जो सभी जल के अभाव में समाप्तप्राय हो गये थे। मरे हुए प्राणियों के शवों से गाँव, घर और रास्ते ऐसे भर गये थे कि उनकी विकरालता सहन नहीं होती थी। मनुष्य, पशु, पक्षी सभी ही एक साथ मरे पड़े थे। भूखे मनुष्य घोड़े, कुत्ते, शूकर आदि का मांस खाकर पेट भर रहे थे।

ये थे ब्राह्मणों के गिरोह, जो सूखे पड़े नदी, नाले और जंगलों को पार करते

गौतम के आश्रम की ओर जा रहे थे। सुनते हैं इस प्रलय-वेला में भी मन्त्र-विज्ञान के बल से महर्षि गौतम के आश्रम में शरद् की सुषमा विराज रही थी।

पूरब, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर चारों ओर के रहनेवाले ब्राह्मणों ने गौतम के आश्रम में प्रवेश किया। ब्राह्मणों को आया हुआ देखकर महर्षि गौतम ने उन्हें प्रणाम किया और कुशल प्रश्न पूछने के साथ कहा—

"ब्राह्मणो ! मैं तो आप जैसे तपोधन जनों के आने से कृतार्थ हो गया हूँ। आप अपने चरण की धूलि से मेरा आश्रम पवित्र कीजिए और आज्ञा दीजिए कि मैं क्या सेवा करूँ।"

"महर्षिवर, हम अकाल से पीड़ित हैं, आप हमें शरण दें।"

"मेरे अतिथियो ! मैं सब तरह से तैयार हूँ। आप अपने अग्निहोत्र के साथ यहाँ आवास करें।"

गौतम ने असंख्य अतिथियों को आश्रय तो दे दिया पर कुछ चिन्तित हुए। अब उन्होंने गायत्री के शक्तिविज्ञान की आराधना की, जिससे अतिथियों का स्वागत हो सके। सुनते हैं उनकी आराधना के प्रभाव से आश्रम में अन्न और फल का पहाड़ लग गया, षट्रसों की कोई बात ही नहीं थी। भूमि घासों की हरियाली से भरी थी। तब क्या था, अग्निहोत्र के धुएँ से आकाश धूप-छाँही चादर तानने लगा और साम गान के स्वरों से दिगन्तर मुखर हो उठा।

बारह वर्ष बीत गये इस प्रकार सुखद आवास करते उन ब्राह्मणों को और स्वर्ग तक महर्षि गौतम की यह यश-गाथा गायी जाने लगी। इन्द्र आश्चर्य के सागर में डूबने लगे और उस सागर का छोर पकड़े एक दिन देवर्षि नारद धरती पर उतरे। उन्होंने महती वीणा बजाते हुए गौतम के आश्रम में प्रवेश किया। स्वागत के बाद परम प्रसन्नता के साथ कहा—"महर्षिवर, अमरावती तक गायी जा रही है आपकी यह कीर्ति-कहानी।" ब्राह्मणों के विपुल समाज में उनकी वीणा बजती रही और भजन होता रहा, बीच-बीच में कह उठते थे—"महर्षि गौतम, मैं तो आप जैसे परोपकारी ब्रह्मनिष्ठ का दर्शन करके धन्य हो गया।"

नारद तो चले गये परन्तु ब्राह्मणों के हृदय में एक आग जल उठी—"इस गौतम का यश अमरावती तक छा गया।"

इधर अकाल के भी पन्द्रह साल पूरे हुए और अब समाप्ति का समय आ गया, भूतल पर वृष्टि होने लगी, प्रायः सभी प्रदेशों में सुभिक्ष हो गया। ब्राह्मणों ने सोचा—"अब चल देना चाहिए।" गौतम के आश्रम में रहने की आवश्यकता भी अब क्या थी, किन्तु चलने का निश्चय करके भी वे ब्राह्मण बड़े खिन्न थे।

दूसरे दिन ब्राह्मण अपने जाने की तैयारियाँ कर रहे थे, सूर्योदय होनेवाला था, महर्षि गौतम अग्निहोत्र करने बैठे थे। सहसा उन्हें पर्णिका के पास एक दुबली-पतली वृद्ध गाय दिखी जो हिलती-डुलती हुई अग्निहोत्र की सामग्री की ओर मुँह बढ़ाने लगी थी। गौतम ने "हुं" कहकर उसका अवरोध किया किन्तु वह गाय इस स्वर के आघात से ही पृथ्वी पर गिर पड़ी और देखते न देखते उसके प्राण उड़ गये।

अब तो ब्राह्मणों ने शोर मचाया—"हाय, हाय, इस पुनीत ब्रह्मवेला में गाय की हत्या। छोड़ो, छोड़ो, इस ढोंगी गौतम के पापाकुल आश्रम को, और और तोड़ दो इसकी पुण्यगाथा की स्वर्ग तक फैली लम्बी सीढ़ियों को।" चारों ओर हल्ला होने लगा। महर्षि चकित होकर सुनते रहे।

थोड़ी देर बाद गौतम ने आँखें मूँदी और ध्यानस्थ होकर इस रहस्य की खोज की, तो बात कुछ और ही थी, "यह तो गाय नहीं बल्कि इन ब्राह्मणों द्वारा बनाया गया गाय का पुतला है और मुझे कलंकित करने का विचार-व्यूह है।" अब तो गौतम के अधर फड़क उठे और आँखें विस्फारित हो गयीं, पर वे प्रकृतिस्थ होकर शान्तिपूर्वक बोले—

"अरे बन्धुओ! तुम तो अपने शिवत्व और साधन के मार्ग से बहुत नीचे गिर गये। अब इस आत्म-पतन से गायत्री और श्री ने भी तुम्हारा साथ छोड़ दिया।

ऐसा मालूम पड़ता है कि पूजा, सन्ध्या, वेद तथा स्मृतियों के आचार, स्वाध्याय, दान और व्रत अब तुमसे नहीं पालन हो सकेंगे।

अब तो तुम माता, पिता, बहन और कन्या को भी यदि बेचने लगो तो असम्भव नहीं कहा जा सकता।

निश्चित है अब तुम स्त्री-लम्पट होकर सभी प्रकार के अनाचारों में लीन रहोगे, और तुम्हारे इस प्रकार के पाप तुम्हारे जीवन की गायत्री की ही हत्या कर डालेंगे।

अधिक क्या, समाज के मूर्धन्य तुम जैसे लोगों के हृदय में दूसरों के प्रति ईर्ष्या और कलुष की ये चिनगारी पहले से न विद्यमान होती तो अकाल ही क्यों आता। और असंख्य प्राण तड़पते हुए अपने जीवन की लीला क्यों समाप्त करते ?

हाय, मुझे दुःख है कि तुम्हारे पैर अन्धकार की अतल खाई की ओर फिसलते जा रहे हैं। और मैं तुम्हें रोक नहीं पा रहा हूँ।"

गौतम की गम्भीर और तीक्ष्ण वाणी सुनकर ब्राह्मण हतप्रभ हो गये उन्हें जब चेत हुआ, वे सोचने लगे—"हाय, मैंने कभी जीवन में भलाई नहीं की, पर आज भलाई पाने के अधिकारी भी न रहे।"

१७. अकेले अमृत नहीं पीऊँगा

काल का विधान जब अपने प्रताप से उन निःस्पृह व्यक्तियों को भी सन्तप्त कर देता है, जिन्होंने अपना जीवन ज्ञान के स्वाध्याय में ही बिताया है और अपनी इच्छामात्र को विश्व-कल्याण की सेवा में लगा दिया है तब उसके प्रताप की सीमा टूटने लगती है। देश का ऋषि-कल्प योगी पुरुष, जब युग के दिए गये सम्मान को ठुकराकर युग के उस अभिशाप को ग्रहण करता है जिसका शिकार सामान्य जगत् होता रहता है तब शीघ्र ही काल की उस गति का संहार होने लगता है।

एक बार इस देश में वर्षों की अनावृष्टि ने देश की आहुति ले ली। धरती अन्न से शून्य थी ही पानी भी सूख गया। बेचारे ग्रामवासी किसी प्रकार जंगलों में भागकर कन्दमूल खोद कर, आखेट करके और झरने का पानी पीते हुए जीवन की साँस गिनते रहे। पर कन्दमूल भी कब तक चलते। वे समाप्त हुए और जल की बूँदों मात्र पर आसन्न-मृत्यु प्रजावर्ग जीता रहा।

कुलपति विश्वामित्र ने भी जल के लिए दुःखी होकर गुरुकुल छोड़ दिया। ये गौतमी नदी के तट पर पहुँचे, साथ में स्त्री-पुत्र और शिष्यों का वर्ग था। नदी के जल से आचमन करके वे सन्तुष्ट न हुए क्योंकि भूख की ज्वाला से सबका कलेजा जला जा रहा था। विश्वामित्र को व्यथा ने घेर लिया। उन्होंने आवेग में आकर शिष्यों से कहा—"जाओ और अतिशीघ्र जाओ। कहीं से भी, जैसे-तैसे भी, जो कुछ भी खाने की वस्तु मिल जाय, लेकर लौटो, विलम्ब मत करो।"

"बहुत अच्छा" कहकर भूख से व्याकुल शिष्य दौड़ पड़े। इधर-उधर बहुत कुछ घूमने पर उन्हें एक मरा हुआ कुत्ता दिखायी पड़ा। मरे हुए कुत्ते को लेकर वे जल्दी से आचार्य के पास लौटे और बोले—"सूर्य की किरणों से जलती

हुई इस धरती पर यह तुरन्त का मरा हुआ कुत्ता ही ऐसा मिला जो सूख कर नीरस होने से बच रहा है और यह बहुत देर की खोज-बीन के बाद आचार्य की सेवा में उपस्थित है।"

"ठीक है, आज यही मंगलकर होगा।" कहते हुए विश्वामित्र ने उसे हाथों से स्पर्श किया और फिर शिष्यों से बोले—"कुत्ते के इस माँस को काटकर टुकड़े-टुकड़े करो, फिर पानी से अच्छी तरह धो लो और आग पर चढ़ा कर पकाओ। आज मन्त्रों से अग्नि में इसकी ही आहुति देकर देवों को और तर्पण करके पितरों को तृप्त करूँगा। फिर अतिथियों और गुरुओं का हिस्सा दे कर शेष बचे हुए मांस का हम स्वयं भोजन करेंगे।"

विश्वामित्र की आज्ञा से शिष्यों ने कुत्ते के मांस का वही संस्कार किया। चूल्हे में आग जली और उस पर बटलोही में मांस पकने लगा।

यह विधान देखकर अग्नि घबड़ाया और वह देवदूत बनकर अमरपुर की देवसभा में उपस्थित हुआ और देवों से निवेदन करने लगा—"आज ऋषि द्वारा पकाया गया कुत्ते का मांस देवों को खाना पड़ेगा। मांस के पकने में थोड़ी ही देर है और शीघ्र ही अग्नि की ज्वाला में देवों के नाम पर मन्त्रपूर्वक उसकी आहुति पड़नेवाली है।"

"छिः छिः कुत्ते का मांस! हम तो उसे कभी नहीं खायेंगे!" सारी देव-सभा चिल्ला उठी।

"पर खायेंगे कैसे नहीं, जब वह ऋषि मन्त्रों से आहुति करके बलपूर्वक आपके मुँह में ठूँस देगा।"

"देवराज, रक्षा हो, रक्षा हो, इस कुसंस्कार से। कुत्ते का मांस देवता नहीं छुयेंगे।" देवों ने इन्द्र से घोर अनुरोध किया।

इन्द्र देवों की मर्यादा और पवित्रता का ध्यान करके व्यथा से भर उठे। उन्होंने इन्द्रपुरी को त्यागा और गौतमी नदी के तट पर, वहाँ पहुँचे जहाँ शिष्य मांस पका रहे थे। तुरन्त ही इन्द्र ने बाज का रूप पकड़ा और चूल्हे पर चढ़ी मांस से भरी बटलोही को उठा कर उड़ चले।

शिष्यों का ध्यान उधर तब गया जब बाज आकाश में ओझल होने लगा। क्षुधा से व्याकुल वे शिष्य दुःखी होकर आचार्य के पास गये और बोले—"अरे गुरुजी, अब हम क्या करें। दुष्ट बाज मांस की बटलोही को ही लेकर आकाश में उड़ गया।"

ऋषि को अचम्भा हुआ, आग पर जलती हुई इतनी बड़ी बटलोही को उठाने की शक्ति बाज में कहाँ से आ गयी। और वह लेकर उड़ ही गया, बटलोही चंगुल से छूटकर गिरी भी नहीं, अवश्य ही इसमें कुछ रहस्य है। मैं इस रहस्य का भेदन करूँगा।"

और उन्होंने आँख को मूँदकर चित्त को ध्यानस्थ किया। उसी क्षण उन्हें इन्द्र की इस करतूत का पता चल गया। ऋषि को क्षोभ हुआ—"एक तो अनावृष्टि, और दूसरे किसी प्रकार प्राप्त हुए आहार में भी व्याघात।" तब उन्होंने इन्द्र को अभिशाप देने के लिए हाथ में जल उठाया।

तभी बाज पुनः उस बटलोही को उसी चूल्हे पर ज्यों का त्यों रख गया। किन्तु शिष्यों ने देखा कि बटलोही में कुत्ते का मांस नहीं है उसमें तो मधु भरा हुआ है। ऋषि ने इन्द्र की इस कृपा का तिरस्कार करते हुए कहा—"इन्द्र तुम मेरे कुत्ते के मांस को ज्यों का त्यों वापस करो और अपना यह मधु-अमृत यहाँ से उठा ले जाओ, नहीं तो मैं तुम्हें और तुम्हारे लोक को भस्म कर दूँगा।"

इन्द्र भयभीत होकर ऋषि के सामने प्रकट हुआ और नम्रता के साथ बोला-"पूज्य महामुने! अग्नि में मधु की आहुति दीजिए और फिर इस पवित्र मधु का पुत्रों तथा शिष्यों के साथ बैठकर यथोचित पान कीजिए, भला, उस अपवित्र कुत्ते के मांस के लिए रोष क्यों कर रहे हैं?"

ऋषि ने उसी रुखाई के साथ उत्तर दिया—"मैं अमृत अकेले नहीं पीऊँगा इन्द्र! सारी प्रजा भूख और प्यास से तड़प-तड़प कर प्राण छोड़ रही है और मुझे अकेले को तुम मधुपान करा रहे हो। यदि यह पवित्र मधु सारी प्रजा के लिए भी सुलभ हो रहा हो, तभी मैं इसका पान करूँगा, नहीं तो कुत्ते के अपवित्र मांस से ही मेरी समस्त यज्ञ-क्रियाएँ सम्पन्न होंगी। देवों और पितरों

को भी यही अपवित्र मांस खाना पड़ेगा। बाद में मैं इसे स्वयं खाऊँगा। मेरे कुत्ते के मांस को तुम वापस करो। तुम्हारा यह मधु, यह अमृत मुझे नहीं चाहिए।"

इन्द्र की वाणी कण्ठ में काँपने लगी। उसने कहा—"महर्षि के आदेश का पालन होगा, लेकिन तबतक आप इस अमृत को स्वीकार करें। मैं मेघों से जलवृष्टि कराकर सारी प्रजा को अमृत पिलाऊँगा।" इतना कहने के बाद वह आकाश में अन्तर्हित हो गया। पुनः देखते ही देखते बादल उमड़ पड़े। शिष्यों द्वारा जलायी गयी चूल्हे की आग, क्षुधा की ज्वाला के साथ घनघोर वृष्टि के पहले ही क्षण में बुझ गयी।

१८. पहाड़ों को तोड़कर पृथ्वी का विस्तार

देवासुर संग्राम समाप्त हो चला था, असुरों ने देवकुल की प्रभुता स्वीकार कर ली थी। अतः लोकजीवन संकटों से मुक्त था और देव भी प्रजा द्वारा किये जानेवाले यज्ञों में केवल हवि-ग्रहण करने के लिए कष्ट उठाते थे। युगों से अकाल नहीं पड़ा, पेट-पूजा निर्बाध चलती रही और सुकाल की महिमा से जनसंख्या दिन दूनी रात चौगुनी हो गयी।

बढ़ती हुई जनसंख्या से खेती करने के लिए और गौओं को चराने के लिए भूमि की छीना-झपटी का तमाशा खड़ा हुआ। भूमि पहाड़ों से भरी थी और जो जंगल थे उन्हें गायें छोड़ना नहीं चाहती थीं। बस मजा था उनको जो बकरियाँ पालते थे, पहाड़ों पर झुंड के झुण्ड लिये चैन की वंशी बजा रहे थे। पर उनके इस व्यापार से सोमपायी लोग बिगड़ खड़े हुए क्योंकि थोड़े समय के भीतर ही पहाड़ियों और वनान्तरों में इन बकरियों के झुंडों ने सोमलता का वंश ही नाश कर डाला।

भूमि की छीना-झपटी, जंगलों का बँटवारा, पहाड़ियों की एक-एक घाटी के लिए तनातनी और कितनी ही बातें इस पेट-पूजा के लिए समाज में हलचल पैदा करने लगीं। जनसंख्या भी उनकी अधिक बढ़ी जो बकरियों की बलि पर पेट पाल रहे थे। सोम पीनेवाले वैसे ही बौद्धिक होते हैं और जबकि अब यज्ञ का, सोम का, घी का, दूध का सबका ही टाला था, उनकी जनसंख्या कैसे बढ़ती। दिन-दहाड़े खेतों में, खलिहानों में, बकरियों के झुंडों पर डाके पड़ने लगे और प्रतिदिन चोरियाँ होने लगीं। अल्पसंख्यावाले बेचारे सोमपायी ही अधिक लूटे गये।

उस समय शासन था महाराज वेणु का। प्रभुता पा जाने से अपने को प्रभु समझने पर सभी की बुद्धि टिकाने नहीं रहती, कुछ न कुछ प्रमाद तो आ ही जाता है। वेणु में भी प्रमाद आ गया था। जब उसके सामने समाज की लूट से सताये हुए सोमपायी और अन्न पर निर्भर रहनेवाले किसान अपना-अपना संकट सुनाने पहुँचे, उसने उनकी उपेक्षा कर दी। खुशामदियों ने उसके कान भर दिये थे और वह था कान का कच्चा, उन चापलूसों ने उसे दुर्व्यसनी बना दिया था।

राजा वेणु अपनी मौज में मस्त रहा और इधर प्रजा डाकुओं के अत्याचारों से पीड़ित होती रही। सभी भूख से त्राहि-त्राहि करने लगे और अन्त में जब यह त्राहि-त्राहि न सही गयी, समाज के बौद्धिक लोगों ने एक साथ मिलकर वेणु का वध कर दिया और उसके योग्य पुत्र पृथु को पुनः अपना राजा निर्वाचित किया।

पर पृथु के राजा बन जाने से समस्या हल न हुई। एक ओर किसान पृथ्वी से खूब अन्न चाहता था, ऋषि-मण्डल यज्ञ सामग्री के लिए गोचारण का आग्रही था, वैश्य वर्ग को रत्नों की, सोने-चाँदी की और धातुओं आदि की अभिलाषा थी और जिनके पल्ले बुद्धि नहीं पड़ी थी बल से उन्मत्त दुर्मद शरीरवाले रक्ष और पिशाच खूब बलि और मदिरा चाहते थे। सुकाल पाकर प्रजा की संख्या में खूब वृद्धि हो गयी थी, अब इस सहस्रशीर्षा वाले जनता-जनार्दन में हजार शिरों की इच्छायें भी हजार थीं, केवल अन्न पर निर्भर रहनेवाली प्रजा की बड़ी दुर्दशा थी, उनके खेतों को छीनकर कोई सोम की लता लगाना चाहता था और कोई हरी खेती चराकर बकरियाँ पाल रहा था। अन्त में बेचारे किसान गायें हाँकते हुए देश छोड़ने लगे।

जब यह समाचार राजा पृथु को मिला, उनके उदार अन्तःकरण ने प्रजा के संकट को दूर करने के लिए दृढ़ संकल्प किया और वह शीघ्र ही धनुष-बाण लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ गायें हाँकते हुए किसान देश छोड़ रहे थे। किसानों ने राजा को देखा और हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

"राजन्, अत्याचार बढ़ गया है। ये गायें नहीं हैं साक्षात् पृथ्वी हैं, आपका राज्य छोड़कर चली जा रही हैं।"

"तो मैं इनको नहीं जाने दूँगा, इनकी व्यवस्था करूँगा। मेरे ये धनुष-बाण अत्याचारों का दमन करेंगे।"

'तो धरतीपाल, इन पहाड़ों का दमन कीजिए। पहाड़ों में रहनेवाले डाकुओं ने ही तो हमको लूट-लूट कर यहाँ से भागने पर विवश किया है।"

"डाकुओं का ही दमन नहीं करूँगा, पहाड़ों का भी शमन करूँगा। इन पहाड़ों ने खेती के योग्य बहुत लम्बी-चौड़ी भूमि चट्टानों और कंकड़ों से भर दी है, अपने बाणों से मैं इन पहाड़ों को दूर फेकूँगा। और खेती के योग्य विस्तृत भू-भाग हमारे राज्य में हो जायगा, यह अन्न की समस्या सुलझ जायगी। अन्न की समस्या सुलझते ही डाकुओं का उत्पात दूर हो जायगा।"

राजा पृथु की कृपा-दृष्टि पाकर किसान रुक गये और उन्होंने अपनी हाँकी हुई गौओं को लौटा लिया।

पृथु ने प्रजा के सहयोग से पहाड़ों का उत्सारण और समीकरण करना शुरू किया। यही काम कभी देवों के राजा इन्द्र ने किया था। इन्द्र को पहाड़ों में छिपे असुरों का विनाश करना था, पृथु को पहाड़ों के आश्रित डाकुओं के विनाश के साथ खेती की भूमि को बढ़ाना था। योजनों तक विषम ऊबड़-खाबड़ पथरीली जमीन समतल कर ली गयी, गाँवों और नगरों की बस्ती का विभाग कर दिया गया। गोचारण और खेती की भूमि अलग-अलग सीमाओं में बाँट दी गयी। व्यापार और आवागमन के मार्ग निर्माण किये गये और इस सुव्यवस्था से डाकुओं के भय को दूर किया गया।

प्रजा प्रसन्नता से फूल उठी। उसने देखा अब तो बहुत विस्तृत धरती हमें खेती करने के लिए दिखायी पड़ रही है और उतनी ही गौओं के चरने के लिए।

प्रजाओं के मुखिया स्वायम्भुव ने कहा—"धरती की इतनी सुन्दर व्यवस्था

आज से पहले कभी हुई ही नहीं। इस व्यवस्था के बाद अब तो पृथु ही धरती के पिता कहे जायेंगे और यह धरती उनकी पुत्री होकर पृथ्वी कहलायेगी।"

प्रजा ने हर्षध्वनि की—"महाराज पृथु की जय!"

स्वायम्भुव ने कहा—"इधर देखो, यह हमारी खेती की भूमि है, यह गोचारण का जंगल है, उधर सोमलताओं का वनखण्ड है जिसमें बृहस्पति ऋषियों का मण्डल लिये वेद की ऋचाएँ गा रहे हैं। दूर दक्षिण और पूर्व में कपाल में खून पीनेवाले राक्षस अपनी बस्तियाँ बसाये हैं। पहाड़ के निचले भागों में असुर लोहे के कड़ाहों में मदिरा तैयार कर रहे हैं। जौहरी तथा वैज्ञानिक हिमालय और दूसरे पर्वतों में रत्न एवं ओषधियों की खोज कर रहे है। पितरों के नाम चाँदी के पात्रों में सुधा दान की जा रही है।

पृथ्वी मानो गाय बन गयी है जिससे ऋषि, देव, पितर, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, नाग सभी अपनी-अपनी अभिलषित वस्तु को दूध की तरह पात्रों में भर रहे हैं, और यह पृथ्वी विविध वनस्पतियों से हरी-भरी होती जा रही है।

धन्य हैं महाराज पृथु, आज उन्होंने पृथ्वी को गाय की तरह दुहा है। जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहेंगे इस गाथा को हमारी सन्तानें नहीं भूलेंगी। सम्राट् ने पृथ्वी से दूध की नदी बहा दी है, देव और दानव दोनों वृत्तियों के लोग आज किसी न किसी दूध की वर्षा में भींग रहे हैं। पेट की ज्वाला का विक्षोभ बुझ गया है, सभी के कण्ठ किसी न किसी रस में डूबे हैं, किसी ने सोमपान किया है, किसी ने शोणित। और सभी परम प्रसन्न हैं, आपस में खींचातानी नहीं है।" प्रजा ने इसका समर्थन करते हुए पृथु के शासन का हार्दिक स्वागत किया।

१९. राजा का आचार्यत्व

विज्ञान प्रगति का प्रतीक है और ज्ञान पूर्णता का परिचायक। झरनों, नदियों और तालाबों में भरा हुआ धरती का जल, वर्षा से लेकर बसन्त तक की रंगीन ऋतुओं में अपना जीवन बिताता है, उसके सामने रंगीन फूल खिलते हैं, रंगीन फल लगते हैं। धरती के इस जल को सूर्य खींचता रहा है और रात नक्षत्रों की किरणों के सहारे उसे उतारती रही है, दोनों के इस विरोध-अनुरोध के बीच लाभान्वित होकर धरती के जल का विज्ञान धरती में नित नयी वनस्पतियों को उगाता है, अमृत के रस से फलों को पचाता है और जीवन में नयी विधि लाकर प्राणियों को जगाता है।

किन्तु समुद्र का अथाह जल केवल अपने में पूर्ण है, उसकी उत्ताल तरंगों के सामने केवल नीला आसमान टिक सकता है और आकाश के नक्षत्रमंडल ही उसकी लहरों का विरोध बचाकर जा सके हैं। अधूरे जगत् से इसका कोई नाता नहीं, न जगत् को इसका जल पीना है और न इस समुद्र को जगत् की रंगीन ऋतुओं में रमना है, इसलिए समुद्र की कहानी एक है और धरती की गाथा अनेक।

धरती के पुरुषार्थ क्षेत्र में भी, मनुष्य ने भोग के भंडारों से घिर कर अपने को बहुत आश्वस्त अनुभव किया, उसने विलास से दोस्ती की, वैराग्य से सत्संग किया। अतः जब धरती के विज्ञान से वह दूर हटा तब या तो आकाश के फूल तोड़ता रहा, अथवा ज्ञान के समुद्र की खोज में अपने को प्रवृत्त कर दिया। जब जंगल की एकान्त भूमि में ऋषियों ने कृषि, गोपालन, वाणिज्य से लेकर राज्यचक्र तक की बात सोच डाली, असुरों से विजय पाने के लिए अमृत का अनुसंधान किया, हड्डियों से बने धनुष-बाण में आग्नेय शक्ति का आह्वान किया, अनेक विज्ञान और अनेक विद्याओं से भरे वेदमन्त्रों का साक्षात्कार

किया, तब जनसंकुल राजधानियों में निवास कर राजर्षियों ने विद्या की परम्परा में चिन्तन की नयी धारा प्रवाहित कर दी। वे जनता को आत्मज्ञान से विजित और अनुशासित करने लगे। विज्ञान की अनेक धाराएँ वेद का उद्गान कर रही हैं पर अध्यात्मज्ञान की एक ज्योति, प्रकाश का आभासमात्र जीवन को मोहित कर लेता है।

जंगल में वेद का अनुसंधान करनेवाला ऋषिकुल का एक स्नातक, बालक से तरुण हुआ था। उसको अपने वेद-चिन्तन पर अभिमान था, किसी प्रसंग-वश वह काशी पहुँच गया। काशी अपने राजर्षि राजा के अध्यात्मप्रकाश से चमक रही थी। उस राजर्षि ने आत्मज्ञान से इन्द्रियों को विजित कर लिया था, अब जगत् में उसका कोई शत्रु नहीं था, उसने अपने स्वभाव से सबको मित्र बना लिया, इसीलिए वह अजातशत्रु था। काशी में सर्वत्र उसके ब्रह्मज्ञान की चर्चा थी, उस चर्चा से दृप्त बालाकि उद्विग्न हो उठा। वह साक्षात्कार के निमित्त अजातशत्रु के पास पहुँचा।

राजर्षि ने उस ऋषि-स्नातक का स्वागत किया। स्वागत के बाद उसने पूछा 'स्नातक ! वेद की किस शाखा का अनुशीलन करते हैं आप ?'

'राजन् ! मुझे सम्पूर्ण वेद-ब्रह्म अवगत है।'

'वेद, न कि ब्रह्म ?' पूछते हुए राजर्षि मुस्कराया।

'जो कुछ ब्रह्म है, वह अक्षर ब्रह्म में उद्गीथ है, और मैंने भूरि परिश्रम करके वेद का स्वाध्याय किया है।'

'बस मेरे कहने का अर्थ यही था, कि स्नातक ने वेद का स्वाध्याय किया, ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं।'

'नहीं, राजन् ! मैं आपको ब्रह्म की प्रतिष्ठा बता सकता हूँ।'

'भगवन् ! तब तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ और आपकी इस वाणी के लिए एक सहस्र गाएँ दूँगा। कहिए, कौन है ब्रह्म ?'

वह तरुण ऋषिकुमार अब तक समझ न सका था कि राजर्षियों की अध्यात्म विद्या जिस ब्रह्म का विवेचन करती है, वह ज्ञान के क्षेत्र में नयी

देन है, उसे अपने वेद के स्वाध्याय का गर्व था, और राजर्षि को स्नातक की ब्रह्म-वाणी सुनने का कौतूहल।

विद्या के गर्व से भरे हुए दृप्त बालाकि ने कहना शुरू किया—'राजन् ! वह दिव्य पुरुष, अपने पुरुषार्थ रूप से सूर्य में प्रतिष्ठित है, सूर्य की ज्योति द्वारा जो धरती में काल को नयी-नयी स्थिति प्रदान करता है, जो ज्योति की उस प्रेरणा से धरती में भूतसंघों का स्रष्टा है, मैं उस पुरुष-ब्रह्म की उपासना करता हूँ। वह मेरी आँखों में, आपकी आँखों में, धरती के कण-कण में सर्वत्र व्याप्त है। हम गायत्री के रूप में उसी शक्ति की उपासना करते हैं।

'नहीं, नहीं, उस पुरुषार्थ के विषय में न बात करो ऋषिकुमार ! मैं इसको जानता हूँ, जो इस आदित्य शक्ति की उपासना करता है वह सभी का शिरोमणि राजा होता है। लेकिन धरती में रसों की सृष्टि करनेवाला, अपनी किरणों से उस रस का भोग करनेवाला कर्त्ता और भोक्ता यह सूर्य, ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म का अंश है।'

बालाकि कुछ असमंजस में पड़ा, उसने सोचा था कि सूर्य की ज्योति और उसके ज्योति विज्ञान को लेकर वह वेद की अनेक ऋचाओं की व्याख्या करेगा। किन्तु राजर्षि ने सूर्य के मुख्य ब्रह्म होने का ही खण्डन कर दिया। बालाकि कुछ सोचने के बाद फिर उत्साह से बोला—'तो यह चन्द्रमा ब्रह्म है, जिसकी किरणें धरती पर रस बरसाती हैं पर धरती के रसों का भोग नहीं करतीं।'

'नहीं, नहीं, यह चन्द्रमा तो यज्ञ का साधन है। ओषधियों का जनक है, पर वह ब्रह्म कर्त्तृत्व से लिप्त नहीं होता।'

'तो विद्युत् में प्रतिष्ठित मेघ की घटाओं के बीच विद्योतित होनेवाला पुरुष ही ब्रह्म है, जिसका कोई कर्त्तृत्व दृष्टि में नहीं आता।'

'नहीं, ऋषिकुमार ! इसकी उपासना करनेवाला तेजस्वी होता है। किन्तु बादलों के बीच उत्पन्न होनेवाला विद्युत ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म जन्म नहीं धारण करता।'

'तो यह आकाश जिसमें सारी सृष्टि, सारा ज्योतिष-मंडल ओतप्रोत है, यह ही ब्रह्म है ।'

'नहीं, यह भी ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म सारी सृष्टि को घेरकर नहीं बैठा है । आकाश की उपासना केवल प्रजा की सृष्टि देनेवाली है, उससे ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है ।'

बालाकि ने अब अपनी तर्कशक्ति से काम लिया । उसने क्रमशः वायु, अग्नि जल, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, दिशा और छाया को ब्रह्म होने की बात कही । पर राजर्षि ने सबका खण्डन किया । बालाकि ने अपनाअन्तिम तर्क दिया—'अच्छा तो हमारी आत्मा में प्रतिष्ठित पुरुष ही ब्रह्म है ।'

'मैं इसे भी जानता हूँ ऋषिकुमार ! ब्रह्म का यह रूप नहीं है, इसकी उपासना करनेवाला मनस्वी स्वतन्त्र प्रकृति होता है और उसकी प्रजा भी स्वाभिमानी होती है, किन्तु ब्रह्म तो इससे भिन्न है ।'

बालाकि अब आगे तर्क नहीं कर सका, वह मौन हो गया । अजातशत्रु ने कहा—'बस इतना ही, इतना सा ही रूप ब्रह्म का जानते हो कि और कुछ ?'

'बस इतना ही जानता हूँ, इतना ही मेरा स्वाध्याय है । राजर्षि मैं समझ रहा हूँ कि आपका ब्रह्म विषयक ज्ञान मुझसे श्रेष्ठ है ।'

वह जिज्ञासु स्नातक इतना कह कर शान्त न रहा, विद्या किसी से भी ग्रहण करनी चाहिए अतः उसने राजर्षि से कहा—'आज मुझे परम्परा से भिन्न नये आचार्य का परिचय मिला है, मैं आपका अन्तेवासी हूँ, बताइये क्या है वह ब्रह्म ?'

'यह तो बहुत विलोम बात है स्नातक ! अपने से उत्तम वर्ण को ही आचार्य बनाया जाता है, मैं क्षत्रिय होकर ब्राह्मण का आचार्य कैसे बनूँ ? इसलिए आप आचार्य ही बने रहो, मैं ब्रह्म का व्याख्यान करता हूँ ।'

राजर्षि ने ब्रह्म के ज्ञान की व्याख्या प्रारम्भ की—'ब्रह्म का कोई रूप न था और रूप-हीन होकर ही वह इस समस्त सृष्टि का संचालक बना, यह

उसकी विशेषता है।' राजर्षि ने उसकी व्याख्या की। ब्रह्म किस प्रकार रूपहीन होकर, अलक्ष्य होकर, इस लक्ष्य सृष्टि का संचालन कर रहा है, इस विषय के निदर्शनों, उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों द्वारा अजातशत्रु ने रूपहीन ब्रह्म का विवेचन किया। उसने अन्तिम निदर्शन देते हुए बताया—'वह अकेला ही इस समस्त सृष्टि का संचालक बना है, अकेला और अद्वितीय है, उससे ही सब पैदा होते हैं और सब उसी में विलीन हो जाते हैं ठीक वैसे जैसे ऊर्णनाभि-कीट की नाभि से अपने आप तन्तु-सूत्र तनता जाता है, अग्नि से अपने आप विस्फुलिंग पैदा होते जाते हैं। और जैसे आकाश के अन्तराल में शब्द पैदा होकर उसी में विलीन हो जाता है एवं जैसे समस्त लोक की सृष्टि इस आकाश की गोद में उत्पन्न और लय होती है।

'स्नातक, आपने जो कुछ कहा वह ब्रह्म नहीं वरंच ब्रह्म का विधि और व्यवहार पक्ष है, प्रपंच-जाल है। निष्कल और निर्मल ब्रह्म उससे भिन्न है। अब आप समझ गये होंगे?'

स्नातक अवाक् होकर इस विवेचन को सुनता रहा। वह ब्रह्म की बात समझ गया पर उसकी बुद्धि राज-जंजाल में व्यस्त राजर्षि की यह निर्मल वाणी सुनकर स्तम्भित हो रही थी। पहाड़ की चट्टानों पर बहनेवाले निर्झर की भाँति श्रम-साध्य वेद का स्वाध्याय विफल हो गया, वह कण-कण धरती को सींचकर भी कृतकार्य न था, क्योंकि सामने ज्ञान का अथाह समुद्र अपनी एक लहर में निर्झर की सत्ता को आत्मसात् कर सकता था।

३०. ब्रह्मवादी पर प्रश्नों की बौछार

ब्राह्मणों को बहुत सी दक्षिणा देकर विदेह जनक ने अपना यज्ञ संपन्न किया। यज्ञ की समाप्ति पर उस राजर्षि को एक नयी जिज्ञासा हुई, मन में एक नया कौतुक जाग उठा, उनके यज्ञ में कुरु-पाञ्चाल देश और मद्र जनपद के ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण, ऋत्विक् होकर पधारे थे, उसने जानना चाहा कि इन ब्राह्मणों में सबसे अधिक ब्रह्मिष्ठ कौन है।

उसने एक हजार गायें वहाँ गोव्रज में ले आकर खड़ी कीं। उन गायों में प्रत्येक की एक-एक सींग में पाँच-पाँच पाव सुवर्ण जटित था। फिर जनक ने हाथ जोड़कर कहा—"पूज्य विप्रगण! आप लोगों के बीच जो अतिशय ब्रह्मिष्ठ हो, वह इन गायों को अपने साथ हाँक ले जाए। मेरी यह विशेष दक्षिणा उसी के लिए है।"

कोई ब्राह्मण अपनी ब्रह्मिष्ठता प्रकट करने का साहस न कर सका। थोड़ा समय बीता। फिर याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य से कहा—"सौम्य सामश्रवा! इन गायों को घर हाँक ले चल।" गुरु की आज्ञा पाकर ब्रह्मचारी गायों को घर की ओर हाँकने लगा।

ब्राह्मणों ने देखा यह याज्ञवल्क्य गायों को हाँक कर ब्रह्मिष्ठ बन गया। और प्रकारान्तर से हम सबको अब्रह्मज्ञ घोषित करता है। वे सभी क्रोध में भर उठे। उन्हें याज्ञवल्क्य के स्वाभिमान को थहाने की इच्छा हुई। फिर क्या था, राजर्षि जनक जैसी चाहते थे वैसी ब्रह्मगोष्ठी शुरू हो गयी। जनक के राजपुरोहित अश्वल ने हँसकर कहा—"क्यों याज्ञवल्क्य, तुम हम लोगों के सामने ब्रह्मिष्ठ बन रहे हो?"

'नहीं, हम ब्रह्मिष्ठ नहीं हैं, हमें तो केवल गायों की कामना है, जो ब्रह्मिष्ठ है हम उसे प्रणाम करते हैं।' याज्ञवल्क्य ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया, पर उनकी इस रहस्यभरी उक्ति से वे ब्राह्मण और चिढ़ गये।

अश्वल ने प्रश्न किया—"याज्ञवल्क्य, कर्ममय यह समस्त जीवन मृत्यु से व्याप्त है, तो यजमान किस साधन द्वारा इससे मुक्त हो सकता है।"

'यज्ञ से अश्वल, वाणी ही जिस यज्ञ का होता है और वाणी ही जिस यज्ञ का अग्नि। वह ही मुक्ति और वह ही अतिमुक्ति है।'

'अच्छा याज्ञवल्क्य, होता किस यज्ञ से किस लोक को विजय करता है।'

'काष्ठ में घी द्वारा दी गयी आहुतियों से होता देवलोक को, बलियज्ञ से पितृलोक को और पय तथा सोम की आहुतियों से जो पृथ्वी में समा जाती हैं, मनुष्य-लोक को विजय करता है।'

याज्ञवल्क्य का उत्तर सुनकर अश्वल शान्त हो गया।

फिर जारत्कारव ने प्रश्न किया—'याज्ञवल्क्य यह सारा संसार मृत्यु का भोज्य अन्न है, क्या कोई वह देवता भी है जिसका भोज्य अन्न यह मृत्यु हो।'

'जारत्कारव तुमने समझा नहीं कि मृत्यु कौन है ? तुम जैसा समझ रहे हो वैसे तो प्रश्न की सीमा ही नहीं होगी। यह अग्नि ही प्रसिद्ध मृत्यु नाम का देवता है, जो सबको अन्न की भाँति भक्षण करता चला जाता है और यह अग्नि भी जल का भोज्य अन्न है।'

अब चाक्रमण ने जिज्ञासा की—"याज्ञवल्क्य, उस आत्मा को बताइए जो सभी के अभ्यन्तर में व्याप्त है।"

'अनेक कार्यकरणों को प्रेरणा देनेवाला जो सभी के अन्तःकरण का प्रसिद्ध विज्ञानमय साक्षी है, वह ही सर्वान्तरव्यापी आत्मा है।"

अब विदुषी गार्गी ने याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेनी चाही; उसने पूछा—'याज्ञवल्क्य जैसे यह पहाड़ों और वनों वाली पृथ्वी जल से ओतप्रोत है, वैसे यह जल किसमें ओतप्रोत है ?'

'वायु में गार्गी !'

'वायु किसमें ओतप्रोत है ?'

'अन्तरिक्षलोकों में ।'

'अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?'

'गन्धर्वलोकों में ।'

'गन्धर्वलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'आदित्यलोको में ।'

'आदित्यलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'चन्द्रलोकों में गार्गी !'

'चन्द्रलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'नक्षत्रलोकों में ।'

'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत है ?'

'देवलोकों में ।'

'देवलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'इन्द्रलोकों में ।'

'इन्द्रलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'प्रजापतिलोकों में ।'

'प्रजापतिलोक किसमें अनुस्यूत है ?'

'ब्रह्मलोकों में ।'

'ये ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?'

'गार्गी कहीं तुम्हारा शिर दो टुकड़े होकर गिर न जाय जो तुम प्रश्न की सीमा लाँघ रही हो ।'

तब तक वाणीविदग्ध शाकल्यने प्रश्न किया—"देव कितने हैं याज्ञवल्क्य । और वे कौन-कौन हैं ?'

'तैंतीस हैं शाकल्य ! आठ वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और इन्द्र ।'

'यज्ञ कौन है।'

'पशु।'

'इनमें छह देव कौन हैं ?'

'अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ।'

'तीन देव और दो देव किसे कहा जाता है ?'

'अलग अलग तीन लोक, तीनदेव हैं। अन्न और प्राण ये दो देव हैं।'

'अध्यर्ध देव कौन है ?'

'वायु, क्योंकि इसमें ही अनुस्यूत होकर चराचर वृद्धि पाता है।'

'एक देव कौन है ?'

'प्राण और वह ही ब्रह्म है।'

फिर कुछ दूसरे ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य को उलझाना चाहा, पर वे याज्ञवल्क्य के एक वाक्य से ही सन्तुष्ट हो गये।

तब गार्गी ने फिर हाथ जोड़ा और कहा—'भगवान् याज्ञवल्क्य! मैं आपसे अपने दो अन्य प्रश्नों का उत्तर चाहती हूँ। यदि मेरे उन प्रश्नों का उत्तर मिल गया तो आप अन्यतम ब्रह्मवादी हैं और इस गोष्ठी में आपको कोई विजय नहीं कर सकता।'

'पूछ ले गार्गी! क्या पूछना चहाती है ?'

'भगवान्! नक्षत्रलोक के ऊपर जो ऊर्ध्वलोक है, पृथ्वी के नीचे जो अधःलोक है एवं जो कुछ अन्तरिक्ष के अन्तराल में स्थित है जो काल बीत गया, जो वर्तमान चल रहा है तथा जो भविष्यत्काल आनेवाला है, यह सब किसमें ओत-प्रोत है ?'

'आकाश में ओतप्रोत हैं गार्गी ?'

'प्रणाम है आपको याज्ञवल्क्य! अच्छा अब मेरा दूसरा प्रश्न सुन लीजिए। इस आकाश में ऊर्ध्वलोक, अन्तरिक्ष और अधःलोक ओतप्रोत है, भूत, वर्तमान और भविष्यत्काल ओतप्रोत है जैसा कि आपने कहा। फिर यह आकाश किसमें ग्रथित होकर स्थित है।'

'अक्षर ब्रह्म में गार्गी ! उसी अक्षर के शासन में यह सूर्य, चन्द्रमा चला करते हैं, निमेष, मुहूर्त्त, दिन, रात, मास, ऋतु, संवत्सर सब उसीके शासन में वर्तमान हैं, उसी के शासन में पहाड़ के उज्ज्वल शिखरों से नदियाँ बह रही हैं। इस अक्षर ब्रह्म को विना जाने जो इस लोक से जाता है वह दीन ही रह जाता है। और गार्गी, जो इसको जान लेता है उससे बढ़कर महान् दूसरा कोई नहीं है।'

गार्गी ने प्रसन्न होकर ब्राह्मणों की ओर देखा और कहा—'हे ब्राह्मणो ! आपलोग मनसे भी भगवान् याज्ञवल्क्य के पराजय की कामना न करें। इन्हें प्रणाम करें और जाने की आज्ञा लें।'

सामश्रवा गायें हाँककर यज्ञभूमि से दूर हो रहा था। ब्राह्मणों के साथ राजर्षि जनक ने उस युवा ऋषि याज्ञवल्क्य को आश्चर्य की आँखों से देखा और पुनः शान्त चित्त हो कर अपना शीश राजर्षि ने याज्ञवल्क्य के चरणों पर रख दिया।

२१. हीरों से भरी टोकरी

कुलपति की कुटी के सामने हीरों, रत्नों और सुवर्णखण्डों की ऊँची राशि लगी हुई थी। विद्यार्थी इन्हें टोकरियों में भर-भर कर दो बराबर भागों में बाँट रहे थे। दूसरी ओर बैठे थे—आचार्य याज्ञवल्क्य और उनकी दो प्रिय स्त्रियाँ। जैसे अन्न की राशि को डालियों में भरकर तौला जाता है या उसके बराबर हिस्से किये जाते हैं वैसे ही हीरे की राशि डलियों में भरकर बाँटी जा रही थी। सरस्वती के समुद्र को हृदय में बाँध रखनेवाले महर्षि याज्ञवल्क्य के जीवन में आचार्य-चरणों पर चढ़ी हुई यह भेंट थी। महर्षि ने उसे चरणों से हटाकर कभी शिर पर नहीं चढ़ाया।

जीवन के मध्यभाग में आने पर उस महर्षि ने विभव की उस बढ़ती हुई सीमा को समाप्त कर दिया। उसकी आँखों की बरौनियों पर वैभव और यश की उड़ती हुई धूल आत्मज्ञान के निर्झर से धुल उठी। उसने अपनी स्त्रियों को सम्बोधित कर के कहा—"देखो, मैं अब लोकजीवन का आनन्द विसर्जन करके चला। मुझे अब तक लोक में जो महिमा, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त हो रही थी, मैंने उसे नये आनेवाले तरुणों के लिए छोड़ दिया। और तुम दोनों के साथ अब मेरे इस जीवन का विच्छेद हो रहा है। अतः जीवन में उपार्जित वैभव द्वारा तुम्हारे जीवन की सुरक्षा किये जा रहा हूँ। सामने हीरे और रत्नों की ऊँची राशि डलियों में भरकर बाँटी जा रही है। उसके दो भाग किये जा रहे हैं। मैत्रेयी! एक तुम्हारे लिए और कात्यायनी! एक तुम्हारे लिए। इस अपार वैभव से तुम लोक में इतना सुखपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकती हो, जितना अनेक उपकरणों से भरे-पूरे सम्राट् अपना जीवन बिताया करते हैं। मैं अब इस नश्वर संसार से मुक्त होकर अमृत जीवन में प्रवेश कर रहा हूँ।"

महर्षि के मौन होने पर उनकी प्रिय स्त्री मैत्रेयी ने निवेदन किया—"तो भगवान्! वह अमृत जीवन क्या है? यह सम्पूर्ण पृथ्वी यदि मेरे लिए वित्त से

पूर्ण रहे और उस वित्त से होनेवाले अग्निहोत्र आदि कर्म मैं करती रहूँ तो क्या मैं भी अमर हो सकती हूँ।"

'नहीं', महर्षि ने कहा—"तुम इस वित्त के साधन से अमृत की आशा न करो। वित्त से केवल तुम्हारा उस प्रकार का जीवन बीत सकता है, जिस प्रकार का जीवन साधन-सम्पत्तियों से युक्त होकर श्रीमन्त लोग सुखोपभोग-पूर्वक बिताया करते हैं।"

मैत्रेयी का मुखमण्डल उत्कण्ठा से चमक उठा, उसने हाथ जोड़कर कहा—"तो मैं हीरों की राशि लेकर क्या करूँगी, यदि मैं इनसे अमृत न बनूँगी। कृपा कर उस अमृतत्व का उपदेश मुझे भी करें।"

'बहुत अच्छा, यदि तुम्हारी ऐसी रुचि है तो मैं उस अमृत की व्याख्या करूँगा। मैत्रेयी मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हो रहा हूँ, आज मेरे चित्त के अनुकूल भाषण करके तुमने सती धर्म का परिचय दिया है।'

'भगवन्, भला आपको छोड़कर मेरे लिए कल्याण का दूसरा कौन मार्ग सुकर हो सकता है?"

'नहीं मैत्रेयी, ऐसा मत कहो, मुझे छोड़कर नहीं, आत्मा को छोड़कर, जिससे कल्याण के सारे मार्ग सुकर होते हैं। आत्मकामना ही सभी संकल्पों का मूल है। पति के प्रति जाया का प्रेम पति की कामना के लिए नहीं, आत्म-कामना के लिए है, उसी प्रकार जाया के प्रति पति का अनुराग भी जाया के लिए नहीं, उसकी अपनी आत्मा के लिए ही है। देखो, पुत्रों के प्रति हमारी वत्सलता पुत्रों की कामना के लिए नहीं होती, अपितु आत्मकामना के लिए होती है। वित्त से हमारा अनुराग क्या वित्त की किसी कामना की सिद्धि के लिए होता है। नहीं, अपनी आत्मकामना के लिए ही। इस प्रकार देवगण, लोकप्राणी किंवा यह सारा जगत् आत्मकामना के लिए हमारा प्रिय बना हुआ है। इसलिए आत्मा का ही भलीभाँति मनन और ध्यान करना चाहिए।'

मैत्रेयी ध्यानावस्थित थी और याज्ञवल्क्य कहते जा रहे थे 'जो आत्मा से अलग इन लोकों और प्राणियों को देखता है, जो आत्मा से अलग देवों की

खोज करता है, यह लोक, ये प्राणी, यह देव, ब्रह्म सभी एक स्वर से उसका तिरस्कार कर देते हैं।

'……और जैसे अग्नि के प्रज्वलित होने पर उससे पृथक् धुआँ चारों ओर फैलने लगता है, वैसे ही इस महान् व्यापक आत्मा के निश्वास छोड़ने पर, ये चारो वेद अथवा समस्त विद्याएँ अपने आप प्रकट हो उठती हैं।'

'जैसे धरती की समस्त जलधाराओं का समुद्र ही एक सामान्य आश्रय होता है अथवा जैसे सभी स्पर्शों के लिये चर्म, सभी रसों के लिए जिह्वा, सभी गन्धों के लिए नासिका, सभी रूपों के लिए आँख, सभी शब्दों के लिए कान, सभी मार्गों के लिए चरण, सभी विद्याओं के लिए हृदय, सभी कर्मों के लिए हाथ, सभी आनन्दों के लिए काम और सभी वेदों के लिए वाणी सामान्य विषय-ग्रहीता होते हैं, वैसे ही समस्त सृष्टि का एक अयन यह आत्मा है, सारी सृष्टि प्रलय के समय अपने कारणभूत इसी आत्मा में लीन हो जाती है। बस, यह आत्मा ही अमृत है।'

मैत्रेयी की आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं। उसने विद्यार्थियों की ओर देखा, और कहा—'वत्स, रहने दो, इस धनराशि का विभाग न करो। अब कात्यायनी इस समस्त वित्त का उपभोग करेगी। भगवन्, मुझे उस अमृत आत्मा के दर्शन का साधन बतायें।'

'अरी मैत्रेयी, प्रवृत्ति के मिल जाने पर मार्ग अपने आप स्पष्ट हो जाता है, और वह प्रवृत्ति तुममें जाग उठी। जब तुमने हीरों की चमकीली राशि की ओर से आँखें मोड़ लीं, तब अवश्य कोई अत्यधिक चमकीली वस्तु तुम्हारे सामने चमक उठी है।'

२२. विराट् जीवन की वाणी

राजा जानश्रुति के यज्ञ और दान की चर्चा से जनपद गूँज उठे थे। यज्ञ के धुएँ से आकाश छा गया था। प्रतिदिन बिना रोक-टोक के लोग उसके यहाँ मनचाहा भोजन करते थे। उसने स्थान-स्थान पर धर्मशालाएँ बनवा कर अन्न के सत्र खोल दिये थे। उसका उद्देश्य था कि जनपद के जनपद ही मेरा अन्न खा कर तृप्त हों। और तब वे जीवन में जो कुछ पुण्य करें, वह पुण्य मेरा हो जाय। पुण्य के लिए राजा अपना सर्वस्व निछावर कर रहा था। एक दिन जहाँ उस राजा का अन्न-सत्र चल रहा था, होम के धुएँ से वृक्षों की डालियाँ धूमिल हो रही थीं, वेदपाठ से दिशाएँ गूँज रही थीं, याचकों की भीड़ से रास्ता भर उठा था, वहाँ उसी समय बैलगाड़ी हाँकता हुआ एक तरुण आ धमका। उसकी 'हटो', 'हटो' की आवाज से रास्ते की भीड़ तितर-बितर होने लगी। गाड़ी पर सूखी लकड़ियाँ लदी थीं। ऊपर कुल्हाड़ा रखा था। बैलों को पुचकारते हुए तरुण गाड़ी हाँक रहा था। कंधे पर यज्ञोपवीत, शिर पर जटा, कमर में मृगचर्म और उद्दीप्त मुख-मंडल से यह स्पष्ट था कि वह ऋषि-पुत्र है।

अन्न-सत्र का एक राजपुरुष गाड़ी के आगे आकर खड़ा हो गया—'भद्र ! यहाँ राजा जानश्रुति का अन्न-सत्र चल रहा है। हम आपको भोजन के लिए आमंत्रित करते हैं। कोई बिना भोजन किये यहाँ से न चला जाय, यह हमारे लिए कठोर आदेश है।'

'अपने राजा से कह दो, अन्न-सत्र अधिक न चलाए। वह राजा है, प्रजा की रक्षा उसका धर्म है, प्रजा का नाश नहीं। उसका यह अनियमित अन्न-सत्र, जिसमें हम जैसे तरुणों को भोजन के लिए आग्रह किया जा रहा है, प्रजा को निकम्मा बना देगा। अपने पुण्य के लोभ में वह हमें कर्म-कुण्ठित और शक्ति-हीन न कर दे। ठीक है जो बूढ़े हों, लूँले-लँगड़े हों, अंधे हों, उनको भोजन

कराओ। अथवा उन श्रम-कातरों को जो असमर्थ बन रहे हों, अपने अन्न-सत्र में ले जाओ। मैं तो तरुण हूँ अपने श्रम का उपभोग करता हूँ। विना श्रम के प्राप्त धन का उपभोग करके साधना को दासी नहीं बनाऊँगा।'

'भद्र! रूप, वेष और तेज से तो ब्राह्मण मालूम पड़ते हो, दान लेना तो ब्राह्मण का कर्तव्य है। फिर हमारा भोजन अस्वीकार क्यों करते हो? यहाँ से कोई ब्राह्मणादि विना भोजन के चला गया तो राजा हम पर बहुत नाराज होगा।'

'तुम्हारे इस अन्न से मेरी तृप्ति नहीं होगी!'

'क्यों?'

'क्योंकि तुम्हारा राजा ही इस अन्न से न तृप्त होकर पुण्य की भूख से पीड़ित है!'

'भद्र! मैंने बात नहीं समझी।'

'तुम नहीं समझोगे। रास्ता छोड़ो और जाओ। मैं भोजन नहीं करूँगा। राजा तुम पर नाराज नहीं होगा, यदि तुम उससे यह कह दोगे कि, गाड़ीवान् रैक्व ऋषि ने अन्न-सत्र में भोजन नहीं ग्रहण किया और न दान लिया। ऋषि ने कहा कि राजा यह सब पुण्य के लिए कर रहा है। ब्रह्मिष्ठ बनने के लिए कर रहा है। उसे ब्रह्म-विद्या की धुन सवार है। पर वह उपासना की ठीक विधि नहीं जानता। उसे मालूम नहीं, उसके राज्य में प्रजा जो कुछ पुण्य करती है वह सारा पुण्य गाड़ीवान् रैक्व ऋषि को मिल जाता है, क्योंकि वह उपासना की ठीक विधि जानता है, क्योंकि वह ऐसे देवता की उपासना करता है!'

इतना कह कर रैक्व ने बैलों को हाँक दिया। गाड़ी मरमराती हुई चल पड़ी उड़ती हुई धूल में आँखें फाड़ कर राजपुरुष ने आश्चर्य से देखा—'राजा जानश्रुति का यश इस ऋषिवाणी के तेज में अंतर्भूत होता जा रहा है।'

रैक्व की वाणी को राजपुरुष ने राजा के कान तक पहुँचाया। उस बात को सुनकर राजा का मन गिर गया। फिर उसमें कौतूहल जागृत हुआ और तब क्रमशः उसमें रैक्व के प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी।

राजा ने रैक्व ऋषि की खोज करवानी शुरू कर दी। खोज करनेवाले वापस लौट आये। उन्होंने कहा कि किसी भी आश्रम में रैक्व का पता नहीं चला। राजा ने डाँटा—'अरे आश्रमों में नहीं, पगडंडियों में, वगीचों की छाँह में उस ऋषि की खोज करो।'

और तब पगडंडियों पर दौड़नेवाले अन्वेषकों ने उस ऋषि को खोज लिया। उन्होंने पगडंडी के किनारे, वगीचे की छाँह में गाड़ी खड़ी करके वलों को खोल कर उनकी गर्दन सहलाते हुए एक धूल-धूसरित जवान को देखा, जिसका मुखमण्डल आनन्द से चमक रहा था। अन्वेषकों ने पूछा—'क्या आप ही रैक्व ऋषि हैं ?'

"हाँ मैं ही हूँ !'—तरुण ने उत्तर दिया।

खोजनेवाले लौट गये और राजा को सूचना दी।

राजा छह सौ गाएँ, खच्चरियों से जुता एक रथ और रत्नों का एक वहुमूल्य हार लेकर ऋषि की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने ऋषि को प्रणाम कर कहा—'भगवन्' ! आपने हमारा अन्न नहीं ग्रहण किया। क्या मैं जो भेंट ले आया हूँ, कृपा-पूर्वक स्वीकार करेंगे और मुझे उस देवता की शिक्षा देंगे, जिसकी उपासना आप करते हैं ?'

'अरे शूद्र ! ये गायें, खच्चरियों का यह रथ और यह चमकता हार तेरे पास ही रहें। क्या यह विभव लेकर शूद्र की भाँति तू मेरी उपासना की खरीद करने आया है। रैक्व की वाणी इन विभवों की कीमत में मुखरित नहीं होती। तू लौट जा।'

राजा लौट गया, पर वह ऋषि की तेजस्विता से अभिभूत था। उसे अनुभव हो रहा था—उस तरुण तत्ववेत्ता में व्यक्तिरूप से जितना बल और आनन्द समाया हुआ है उतना स्वयं उसमें नहीं है। फटकार सुन कर भी राजा की श्रद्धा उस तरुण के प्रति कम न हुई।

फिर वह एक हजार गायें, खच्चरियों का रथ, रत्नों का हार और अपनी

राजपुत्री को लेकर उस तत्त्ववेत्ता की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने नम्रता से कहा—'भगवन्! मुझे उपदेश करें। आपकी सेवा में यह गायें, यह रथ, यह हार, जिसमें आप रहते हैं यह गाँव और यह राजकुमारी भेंट-स्वरूप उपस्थित हैं। ये भेंट स्वीकार करें।'

रैक्व ने राजा की विनीत मुद्रा और उसके उपहारों की ओर देखा। फिर उसने राजकन्या की ओर आँख उठायी। सहसा उसके हृदय में नये स्पर्श का अनुभव हुआ। उसने कहा—'अच्छा, तू इतने उपहार लेकर आया है। ऋषि के लिए ये सब व्यर्थ ही हैं।' फिर कन्या की ओर देखकर कहा—'पर हाँ, इस कन्या के मुँह को देखकर इसके सम्मान की लाज रखनी है। इसके सम्मान को अस्वीकार करना जीवन से मुँह मोड़ना होगा। मैं तुम्हारी इस भेंट को स्वीकार करता हूँ। और सुनो, मैं जीवन की महिमा में भींग कर विराट-जीवन की वाणी में बोल रहा हूँ।

इतना कह कर तरुण ऋषिकुमार ने लज्जा से अधोमुखी कन्या को एक वार फिर देखा और कहना आरंभ किया—

'राजन्! तू जानता है, अग्नि बुझता है तो कहाँ समा जाता है? सूर्य, चन्द्रमा, तारे अस्त होते हैं तो कहाँ लीन हो जाते हैं? जल सूखता है तो कहाँ उड़ जाता है? ये सब वायु में अंतर्भूत होते हैं। वायु ही सबका लय स्थान है। वायु ही मेरा देवता है।

'और तू कभी सोचता है, जब पुरुष सो जाता है, उसकी वाक्इंद्रिय, आँख, कान और मन कहाँ विश्राम करते हैं? प्राण इन सबको अपने में लीन कर लेता है। प्राण मेरा देवता है।

'मेरी संवर्ग-विद्या का यही मूल है। ब्रह्माण्ड में वायु और इस शरीर में प्राण शेष तत्त्वों को अपने में लीन कर ले रहे हैं। मैं इनकी उपासना करता हूँ, प्राणायाम मेरी उपासना पद्धति है।

आँख, कान, मन और वाक् इंद्रिय—इन्हीं के लिए अन्न खाया जाता है। प्राण इन्हें अपने में लय कर रहा है। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और जल, ये सब

अन्न की तरह सृष्टि का भोग कर रहे हैं। वायु इनको अपने में लय कर रहा है। वस, वायु और प्राण के रूप में वह विराट् ही अन्नरूपी इस जगत् का भक्षण करनेवाला है। वह अन्नाद (अन्न खानेवाला) वना हुआ है। जो इस तत्त्व को, इस तत्त्व की उपासना-पद्धति को जानता है, वही संसार का वास्तविक भोक्ता है, नहीं तो संसार ही उसको खा डालता है।

'और राजन्! जैसे द्यूत-क्रीड़ा में कृत नामक पाले द्वारा जीतनेवाले पुरुष के अधीन निम्न श्रेणी के सभी पासे हो जाते हैं, वैसे ही प्राणायाम से जिसने वायु और प्राण को अपने अधीन कर लिया है, वाणी, मन, आँख, कान और अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, जल ये सभी उसके वश में हो जाते हैं। ये कुल मिलाकर विश्वरूपी द्यूत के दस कृत हैं, ये जिस उपासक के वश में हो जाते हैं, विश्व ही उसके अधीन है, वह ही विश्व का सच्चा भोक्ता है।

'अब तू समझ गया होगा, मैंने तेरा अन्न क्यों नहीं खाया? तू भी किसी को खिलाने का स्वप्न मत देख। तुझे तो संसार खा रहा है। उपासना करके स्वयं भोक्ता बन जा। और ऐसा असावधान न रहे कि तुझको तेरे ही आँख, कान, तेरा ही मन, तेरी ही वाणी खा जाय।'

ऋषि चुप हो गया, पर उसका अंतर आकुल था—वह समझ नहीं पा रहा था कि मैंने राजकन्या को क्यों स्वीकार कर लिया। मेरी संवर्ग विद्या के दो मूल हैं—वायु और प्राण। एक ब्रह्माण्ड के तत्त्वों को अपने में लीन कर रहा है और दूसरा शरीर के तत्त्वों को। लेकिन राजकन्या ब्रह्माण्ड का तत्त्व है या शरीर का। दोनों का नहीं है। इसे मैं कैसे आत्मसात् करूँगा? सचमुच मैं जीवन की महिमा में भींग गया हूँ,

राजा भी धरती की ओर देख रहा था। उसने अब तक जो कुछ किया था, सब मिट्टी में मिल चुका था।

कन्या लाज से नीचे गड़ी जा रही थी। ऊपर आकाश गिर रहा था। पर तरुण ऋषि का आकर्षण उसे स्थिर किये था। जैसे वही धरती और आकाश की संधि-भूमि थी।

२३. सब कुछ पृथिवी-लोक में है

'वयस्यो ! सामगान की चर्चा करता हूँ जिसे तुम केवल उद्‌गीथ किंवा ब्रह्म की उपासना मात्र ही समझते हो। मैंने सामगान के संगीत को, उसके स्वर-संकेत को, उससे मिलनेवाले आनन्द को अनेक रूपों में पृथिवी से अंकुरित होते हुए देखा है। क्या मेरी उपलब्धि सुनने के लिए तुम दोनों तैयार हो ?

'तैयार हो तो सुनो—

'हमारा सामगान सुनकर समस्त प्रकृति हमारे लिए चारों दिशाओं में आनन्द की विभूति बिखेरती जा रही है। सामगान सुन कर काल कितने रंग बदलता है ? देखते हो न ? क्यों जैवल ! ठीक कहता हूँ न ? सामगान सुनकर ही काल बादल बन कर बरस पड़ता है, पकती हुई धान की बालियों में धरती पर उतरता है, मिट्टी के बरतनों में बैठने की साध से गाय के स्तनों में दूध की धार बन कर गिरता है, सरोवरों में कमल बन कर खिल जाता है। हेमन्त में सुदूर पहाड़ियों तक, नदियों के किनारों तक साम के संगीत-स्वर जब गेहूँ, जौ, चना, मसूर के खेतों के रूप में उभर उठते हैं तब उन पर काल निछावर हो उठता है और उसकी आत्मा के टुकड़े नन्हें-नन्हें, लाल-पीले, सफेद, नीले फूलों के रंग में हजार-हजार रूप में उन स्वरों को ढक लेते हैं। साम का संगीत सुनकर फागुन में वन के वन उन्मत्त हो गए, वे नाच उठे, उनके वस्त्र गिर गए, वे नंगे हो गए, उनका आनन्द फूलों और मंजरियों में फूट पड़ा। देखते हो न ! ऋषिकुमारों के मुख से अकल्मषवाणी में साम का गान सुनकर इस काल के पास, इस धरती के पास, आकाश के पास, कुछ भी अदेय नहीं रह गया। जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है यह सामगान !

'जैवल ! मेरा अनुभव सुनो, हम लोग यज्ञ में सोम-पान कर आनन्द में डूब जाते हैं, शक्तिमान् बन जाते हैं। पर याद रखो—यह सृष्टि, यह धरती,

यह अनन्त काल सामगान का ही पान कर आनन्द में उन्मत्त होते हैं और जो आनन्द में उन्मत्त हो जाय फिर चाहे उसका घर उसीसे लुटवा लो। ऋषि के लिए सोम और सृष्टि के लिए साम, कितना अद्भुत और सरल बँटवारा है! सच कहता हूँ, यदि हमारे सामगान की उपलब्धि और भी विशिष्ट होती गयी तो इसमें क्या आश्चर्य है कि हम सहज आनन्द के साथ काल के उस अमरत्व को भी पा सकते हैं जिसके परिवर्तन-चक्र में यह पृथिवी-लोक नित्य नवीन दिखायी देता है। वयस्य जैवल! और वयस्य दाल्भ्य! आओ सामगान के विज्ञान पर अव-हित चित्त से विचार करें। देखें, सामगान का मूल क्या है?'

फागुन महीने का सूर्य उदयाचल पर आकर अपनी सुनहरी किरणों से कुहासे की चादर को आकाश से खींच कर कमर में लपेट रहा था। कुहासे के क्षीण होते ही तालाबों में खिले कमल के फूल सौरभ की हँसी हँसने लगे। हवा चली। पकते हुए खेत छहर उठे। मंजरियों से लदे बगीचों की सुगंधि से सँवार गमगमा उठा। किरणें प्रखर हुईं। बगीचों के बीच बसे गाँव के पुरवे से गायों का झुंड चरवाहों के गीत की तान के साथ अपनी काठ की घंटियाँ बजाता मैदान में बगरने लगा। नदी के तट से लेकर पहाड़ी की ढाल तक सामगान का स्वर पान कर कोई ऋतु देवता प्रत्यक्ष मूर्तिमान हो रहे थे। और दूसरी ओर प्रातः की संध्योपासना कर साम की ऋचाएँ गा कर दो प्रगल्भ ऋषिकुमार और एक राजपुत्र तीन स्नातक पेड़ के नीचे चट्टान पर आसन जमाकर उद्गीथ की मीमांसा में मुग्ध थे।

सामगान के सम्बन्ध में शिलक की भावभरी अनुभूति सुनकर दाल्भ्य का चेहरा खिल उठा—"सचमुच सामगान जीवन का सर्वस्व है, पुरुष के जीवन की चरम परिणति है, उसकी वाणी की सिद्धि है। यदि पुरुष इस सृष्टि का शृंगार है—महाभूतों से पृथ्वी की, पृथ्वी से जल की आर जल से ओषधियों की सृष्टि होती है, ओषधियों के रस मिल कर इस अद्भुत प्राणी पुरुष को रचना करते हैं—तो पुरुष की वाणी से मुखरित ब्रह्म की उपासना का सामगान समस्त प्रकृति को अपने में लय कर लेने का और सोते हुए भूत-तत्त्वों को जागृत कर

देने का परम विज्ञान है। जो इस सामगान के रहस्य को जानता है वह स्वर्ग के—दिवलोक के रहस्य को भी जानता है।'

'क्या कहा दाल्म्य ! सामगान का रहस्य दिवलोक का रहस्य है ?'

'और क्या शिलक ?'

'नहीं, यह मैं मानने के लिए तैयार नहीं हूँ।'

'तो कैसे ?'

शिलक ने प्रश्न आरम्भ किया, दाल्म्य उत्तर देने लगा—

'सामगान कहाँ से होता है ?' 'स्वर से।' 'स्वर कहाँ से आता है ?' 'प्राणों से।' 'प्राणों की प्रतिष्ठा कहाँ से होती है ?' 'अन्न से।', 'अन्न कैसे होता है ?' 'जल से।' 'जल कहाँ से आया ?' 'दिवलोक से।' 'दिवलोक किस पर आधारित है ?' 'बस शिलक ! सामगान के सम्बन्ध में दिवलोक से आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए। दिवलोक ही सामगान का लक्ष्य है। हम सामगान के स्वरों में दिवलोक का ही गुण गाते हैं, और उसके स्वर्गीय ऐश्वर्य की कामना करते हैं।'

'यह कैसे हो सकता है दाल्म्य ? यदि सामगान का कोई उद्गाता तेरे इस उत्तर को सुने तो वह तेरी इस मूर्खता पर हँसेगा और तुझे लज्जा से अपना मस्तक झुकाना पड़ेगा।'

दाल्म्य ने संकुचित होकर शिलक और जैवल की ओर देखा। जैवल ने कहा—'वयस्य ! बात तो ऐसी ही है।'

विद्या की श्रेष्ठता से बढ़कर ऋषि-कुमार के लिए और क्या वन्दनीय हो सकता है। दाल्म्य ने शिलक के सामने नम्रता से झुक कर प्रश्न किया—"भगवन् ! क्या मैं यह जान सकता हूँ कि दिवलोक का आधार क्या है ?'

'दाल्म्य ! यह पृथिवी-लोक ही दिवलोक का आधार है ?'

'और पृथिवी लोक का आधार ?'

'बस, सामगान के सम्बन्ध में पृथिवीलोक से आगे प्रश्न नहीं किया जाता, सब कुछ इस पृथिवी-लोक में है। ऋतुओं के रूप में काल इस पृथिवी

लोक में उतरता है, जल की वर्षा के साथ दिवलोक का रसायन धरती में अन्न बन कर आता है। सामगान के अपने अनुभव की उपलब्धि में क्या मैंने अभी सब बताया नहीं ?'

'बताया है भगवन् !'

'बस, जो कुछ धरती के भीतर रहस्यमय है और जो कुछ धरती के ऊपर प्रकाशमय है, साम के संगीत में हमारे स्वर सब को इस धरतीलोक पर छा देते हैं। ये सौरभ से भरे फूल, ये सत्व से भरे अन्न और यज्ञ की अग्नि में घी की आहुति देनेवाली ये गाएँ—साम के संगीत में इनकी ही उपासना होती है, जो कुछ पृथिवीलोक में है उसकी उपासना होती है, सब कुछ पृथिवी-लोक में है इसकी उपासना होती है। क्यों जैवल ?'

दाल्भ्य श्रद्धा से ओतप्रोत था। जैवल मुस्कराया। वह राजर्षिकुमार था, राजर्षियों की अध्यात्म-सभा की गोष्ठी उसने सुनी थी। कोई भी अध्यात्म-वादी यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि सब कुछ पृथिवीलोक में है। जैवल ने कहा—'शिलक ! उद्गीथ की उपलब्धि में तुम्हारा ज्ञान अधूरा है। तुमने कैसे कह दिया कि सब कुछ पृथिवी-लोक में है। सामगान का कोई उद्गाता यदि यहाँ आ जाय तो वह तुम्हारे इस अधूरे ज्ञान पर हँसेगा ?'

'तो राजर्षिकुमार ! क्या मैं जान सकता हूँ कि सामगान की पूर्ण उप-लब्धि क्या है ?'

'जान सकते हो ! दिवलोक का आधार यह पृथिवी लोक है और पृथिवी-लोक का आधार वह आकाश है, वह आकाश ही अनन्त है, वही ब्रह्म है। हम उद्गीथ के स्वरों में उसकी ही उपासना करते हैं। सामगान के स्वर उस अक्षर-आकाश में ही लय हो जाते हैं। उस आकाश-लोक में ही सूर्य, चन्द्रमा और कितने ज्योतिपुञ्ज चक्कर लगाते हैं, सब उसी में उदय होते हैं और उसी में विलय हो जाते हैं। जो उसकी उपासना करता है वह पूर्णकाम हो जाता है। उसे इस लोक और उस लोक में कोई अभाव नहीं रह जाता। यही उद्गीथ है। यही पूर्ण उपलब्धि है।'

दाल्भ्य का चेहरा जिज्ञासा की प्यास से मुरझुरा उठा। उसने पूछा—'भाई जैवल! एक बार मैंने एक सफेद कुत्ते को एक स्थान पर उद्‌गीथ के लिए अन्य कुत्तों को बुलाते हुए देखा था। दूसरे दिन सब कुत्ते वहाँ इकट्ठे हुए, इन्होंने हा उ – हा उ – औ – हो – हाई के स्वरों में उद्‌गीथ का गान किया। उद्‌गीथ के बाद मैंने देखा उनको अन्न की प्राप्ति हुई। अन्न खा कर वे अपनी पूँछ हिलाने लगे। मैंने समझा अब, इनकी आत्मा आनन्द में लीन है। जो उद्‌गीथ है, वही आनन्द है, वही अन्न है। पर पृथिवीलोक में उसका बोध अन्न के रूप में होता है, हमारी आँखों के सामने वह अन्न-रूप देवता है। वह अनन्त-ब्रह्म अन्न-रूप में इस पृथिवी लोक में भी है।'

'उस अनन्त ब्रह्म के अनन्त रूप हैं। जो सभी पृथिवीलोक में नहीं हैं दाल्भ्य! इस तथ्य को इस जैवल ने अनुभव किया है।'

शिलक की बुद्धि चौंक कर जगी—'तो हम उद्‌गीथ द्वारा आकाश में ब्रह्म के किस रूप की उपासना करते हैं?'

'किस रूप की उपासना करते हैं? उस रस के रूप की जो पृथिवी को ओषधि और अन्न से परिपूर्ण कर देता है, उस भाव के रूप की, जो हमारे आत्मा को सुख-विभोर कर देता है, उस सौन्दर्य के रूप को, जो पृथिवी को अभिराम बना देता है। इसीलिए वह पृथिवी का आधार है।'

दाल्भ्य का मुख पूर्णज्ञान की मुद्रा में चमक उठा—'तब तो शिलक की बात ही ठीक है, सब कुछ पृथिवी पर परिपूर्ण होता है। ओषधि, फल, अन्न, दूध में वह अनन्त ब्रह्म रस बन कर प्रतिष्ठित होता है। उद्‌गीथ का उपासक पृथिवी पर ही आप्तकाम है क्योंकि पृथिवी के उस पार तो कामनाओं का विश्व होता नहीं। सब कुछ पृथिवी-लोक में है, उद्‌गीथ में हम इसकी उपासना करते हैं, जीवन में इसकी ही कामना करते हैं और जो पृथिवी का आधार है हम उसकी वन्दना करते हैं।'

२४. प्राण, अन्न देवता और वाणी का रस

'ईश्वर को यह नयी स्तुति आँख से देख लो, कान से सुन लो चाक्रायण ! ध्यान से देखो, बादल अब बूँदें नहीं बरस रहे हैं, पटापट ओलों के गिरने की आवाज आ रही है। उधर दूर खेतों में देखो—पकते जौ, चना, मटर, अरहर के पौधे ओलों की चोट खाकर मिट्टी में मिलने लगे। बादलों की यह करामात भी किसी की वाणी का रस है, ईश्वर की स्तुति है, क्यों ठीक कह रही हूँ ? तुम्हीं ने तो कहा था—झींगुरों की झनकार, कुत्तों की हौंकार, शृगालों की हुंकार, हाथियों की चिग्घाड़—सभी के स्वरों में उस अनन्त परमात्मा की उच्च स्वर से वन्दना हो रही है। क्या बादलों की यह गर्जना और ओलों का बरसना भी ईश्वर को स्तुति का रूप है ? जिससे कुरु देश की समस्त खेती अभी एक-दो दंड में मटियामेट हो जायगी। और अब बेचारे किसान वेद-गायक चाक्रायण को अन्न के नाम पर अपनी दुःखभरी कहानी सुनयेंगे।'

'आटिकी ! यह ईश्वर की स्तुति नहीं है, काल की स्तुति है। मैं समझ रहा हूँ—वैदिक युग का ह्रास आ गया। ऋत्विजों ने वंचना की है, यज्ञ में उन ऋषिपुत्रों ने मंत्रगान में देवताओं का प्राण न देखकर अपनी दक्षिणा की चिन्ता की है, वे जानते भी नहीं, मंत्रों के प्राण कौन हैं ? क्या समझती हो ? ये सफेद-सफेद ओलों के छर्रें बादलों से छूटकर धरती पर नहीं आ रहे हैं वरंच इस भूमि के अधकचरे ऋषियों के मंत्रध्वनि से उठे हुए निष्प्राण शब्द आकाश में स्थित होने में असमर्थ होकर धरती पर उलटे मुँह गिर रहे हैं। ईश्वर के साथ शब्दों का खिलवाड़ और बादलों का खेती के साथ खिलवाड़—इस रहस्य को यह चाक्रायण इसी प्रकार समझता है।'

उषस्ति चाक्रायण ऋषि-सन्तान था। वेद का अनुशीलन उसकी जीविका थी। खेतों में अन्न देवता के आगमन पर वह मंत्रों का गान करता था, उसके मंत्रों के स्वर अन्न देवता को बुला लाते थे, पर आज आशा के विरुद्ध ओलों की वर्षा से खेत बरबाद हो रहे हैं।

उसने अपनी स्त्री आटिकी से कई बार कहा है—अन्न देवता से हमारा यह शरीर प्रकाशित होता है। मनुष्य का शरीर पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ निर्माण है और मनुष्य की सबसे अनोखी कृति उसकी वाणी है। वैसे तो सारा जगत् अपनी अस्फुट वाणी में ईश्वर की स्तुति कर रहा है। पर मनुष्य की वाणी ईश्वर की अद्भुत स्तुति है। वाणी का रस पृथ्वी के सब रसों में श्रेष्ठ है, आकाश द्वारा इस वाणी-रस का पान कर सृष्टि के अनेक तत्त्वों में छिपी हुई सर्वशक्तिमान् सत्ता मनुष्य के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है। उस सत्ता के दर्शन और ग्रहण से मनुष्य के शरीर के प्राण भी शक्तिमान् बन जाते हैं। अन्न भी एक शक्तिमान् सत्ता है, परम्परा से वह यज्ञ में ऋषियों की गूँजी हुई वाणी की सन्तान है।

ओलों की बरसात देख उषस्ति की स्त्री ने वाणी के रस और ईश्वर की स्तुति पर व्यंग्य किया। उषस्ति ने व्यंग्य का उत्तर तो दिया पर वह चिन्तित हो उठा था—वैदिक-परम्परा का पतन हो रहा है, यज्ञ में वाणी-विज्ञान के स्थान पर दक्षिणा और कामना की प्रधानता हो गयी है। वाणी का मजाक हो रहा है। मंत्र के शब्दार्थ-मात्र का अधूरा ज्ञान रखने वाले ऐसे अधकचरे ऋषिपुत्रों को उसने कुछ दिन पहले यज्ञों में देखा है।

उषस्ति के चिन्ता करते-करते ओलों ने एक छोर से दूसरे छोर तक खेती का संहार कर दिया। दो दिन बाद गरीब उषस्ति ने अपना कुटीर छोड़ दिया।

वाणी का रस ही उषस्ति का विभव था जो खेतों में अन्न के रूप में निखर जाता था और फिर स्वयं उसी की स्तुति बन जाता था। उसकी छोटी-सी झोपड़ी में वह था, उसकी वाणी थी। पर अब खेतों का अन्न गया, शरीर के प्राण शिथिल हुए, वेद-पाठ का संगीत धीमा हुआ, झोपड़ी नीरव हो गयी।

अपनी स्त्री आटिकी के साथ घूमते-घूमते उषस्ति एक दिन उस गाँव में पहुँचा जिसमें हाथी पालनेवाले महावत रहते थे। उषस्ति को कई दिनों से अन्न नहीं मिला था, उसे अन्न की भूख थी। वहाँ एक हस्तिपक को उड़द के दाने खाते हुए देखा। वह उससे अन्न की भिक्षा माँगने लगा। महावत ने कहा—'मेरे पास तो केवल इतने ही उड़द हैं, जो मैं खा रहा हूँ।'

'अच्छा तो उसी में से कुछ मुझे भी दे दे।'

'बहुत अच्छा' कह कर हस्तिपक ने उन जूँठे दानों में से कुछ निकाल कर उषस्ति को भी दे दिया। ऋषि-भिक्षा लेकर आगे चला, हस्तिपक ने कहा 'पानी भी ले लीजिए।'

'पानी तो तेरा जूँठा है।'

'उड़द नहीं जूँठे थे।' ऋषि की ओर आश्चर्य से वह हस्तिपक देखने लगा।

'वे केवल तेरे पास मिल सकते थे पर पानी तो सब जगह मिल सकता है, तब उसकी जूँठी भिक्षा तुझसे क्यों करूँ?'

हमारा लक्ष्य तो प्राण की रक्षा करना है। प्राण की रक्षा के लिए अन्न के अभाव में जूँठे उड़द खाऊँगा क्योंकि प्राण देवता है। और जब जल दूसरी जगह भी मिल सकता है तब जूँठे जल से प्राण की तृप्ति करने के लिए इस-लिए विवश नहीं हूँ कि जूँठे उड़द खा लिये तब जूँठा जल पीने में क्या रखा है? ऋषि का विचार इतना पवित्रता के पीछे नहीं पड़ता, वह साधना-परक है।'

उषस्ति ने कुछ उड़द उसमें से खा लिये और शेष ले आकर स्त्री को दे दिया। स्त्री ने उनको नहीं खाया और रख छोड़ा।

दूसरे दिन सवेरा हुआ। उषस्ति ने स्त्री से कहा—'आटिकी! यदि कुछ आहार की सामग्री होती तो खा लेता, शरीर को प्राणवान् कर लेता। एक राजा यज्ञ कर रहा है, फिर वहाँ जाता, कुछ दक्षिणा की प्राप्ति होती।'

स्त्री ने रखे हुए जूँठे उड़द दे दिए। उषस्ति उन्हें खा कर यज्ञभूमि की ओर चला गया।

यज्ञभूमि में पहुँच कर उषस्ति ने देखा—यज्ञकर्त्ता निष्प्राण मंत्रों का छूँछे स्वरों से उच्चारण कर रहे हैं। उषस्ति ने उनको डाँट दिया—'यदि तुम लोग मेरे सामने अपने स्वरों में देवता की प्रतिष्ठा किए बिना, उनको जाने बिना, केवल मंत्रों का गान करोगे तो तुम्हें लज्जा से शिर झुकाना पड़ेगा। मैं ऐसे ऋत्विजों से यज्ञ करानेवाले राजा को भी बिना डाँटे न रहूँगा।'

ऋत्विज् संदेह में पड़ गए, उनका मुख-मंडल लज्जा से झुक गया। यह वृत्तान्त राजा को मालूम हुआ, राजा यज्ञ-स्थल पर आया, उसने उषस्ति को प्रणाम करके पूछा—'भगवन्! आप कौन हैं?'

'मैं उषस्ति चाक्रायण हूँ।'

'तो भगवन्! मैं आपकी खोज कर रहा था, आपके न मिलने पर मैंने इन ऋत्विजों को यज्ञ में वरण किया है। कृपा करके अब आप ही भलीभाँति मेरा यज्ञ संपन्न करायें। मैं आपको यथेष्ट दक्षिणा दूँगा।'

'नहीं, मैं यथेष्ट दक्षिणा न लूँगा। इन ब्राह्मणों को भी यज्ञ में रक्खो, मैं सभी के साथ यज्ञ को विधि-पूर्वक सम्पन्न कराऊँगा, दक्षिणा जितनी इनको देना, केवल उतनी ही दक्षिणा मुझे भी।'

राजा ने कहा—'जैसी आपकी आज्ञा!'

और उषस्ति यज्ञ की व्यवस्था देखने लगा। अब ऋत्विजों ने हाथ जोड़ कर पूछा—'भगवन्! कौन हैं वह देवता, जिनको जाने बिना मेरे मंत्रगान व्यर्थ हो जायेंगे?'

उषस्ति ने प्रारंभ में ही अपने कथन से उन्हें आकर्षित कर लिया—'पहले अपने शरीर के देवता को देखो, प्राण ही तुम्हारे शरीर का देवता है, जगत् मात्र को इस देवता के प्रकाश की जरूरत है। मंत्रों में इसकी प्रतिष्ठा करके तब यज्ञ को प्रारंभ करो। तुम्हारे मंत्रों के सस्वर गान जब प्रारम्भ हों, जब

यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ ऊँची उठें, मंत्रों में सूर्य देवता की प्रतिष्ठा हो। मंत्र के भावों में पृथ्वी को द्युलोक से मिला दो। पृथ्वी के समस्त रसों के मूल में यह सूर्य है।

'यज्ञ का उपसंहार करते समय फिर धरती पर आ जाओ। तुम्हारे मंत्र में अन्न-देवता की प्रतिष्ठा हो। सूर्य मिट्टी में उतर कर अन्न बन जाता है। अन्न देवता की प्रसन्नता के बिना यज्ञ सफल न होगा क्योंकि ऋत्विज् और उसका लोक उस अन्न को ग्रहण करके ही जीवन में गति पाता है। शरीर में प्राण, आकाश में सूर्य और धरती पर अन्न ये तीन हमारे महान् देवता हैं, इनकी प्रतिष्ठा मंत्र के स्वरों में करो, वाणी के रस से इनको तृप्त कर दो।'

ऋत्विजों ने प्रसन्न होकर कहा—'सचमुच हमने आज मंत्रों का ठीक प्रयोग जाना है, भगवन्! आप हमारे आचार्य हुए।'

'ब्राह्मणो! छूँछे निर्बल शब्दों द्वारा सम्पन्न यज्ञों से लोक का विनाश होगा। नहीं जानते, कुरु देश की खेती ओलों की वर्षा से चौपट हो गयी। तभी मुझे अनुभव हुआ—आज इस भूमि के ऋत्विज् शब्दों का ठीक प्रयोग नहीं जानते।'